गीता-प्रवेशिका

Geeta for the Beginners

(3rd Edition)

रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत'

स्वामी रामानन्द जी महाराज

गीता-प्रवेशिका

Geeta for the Beginners

(3rd Edition)

रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत'

प्रथम संस्करणः चैत्र शुक्ल प्रतिपदा विक्रम संवत् 2078 को प्रकाशित
Fist edition published on 13th April, 2021

संशोधित द्वितीय संस्करणः आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा विक्रम संवत् 2079 को प्रकाशित
Revised 2nd edition published on Guru Purnima, 13th July, 2022

संशोधित तृतीय संस्करणः बसंत पंचमी विक्रम संवत् 2082 को प्रकाशित
Revised 3rd edition published on Basant Panchami, 23rd January, 2026

मूल्यः सदुपयोग

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान
रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत'
1018, महागुन मैंशन-1, इन्दिरापुरम, गाजियाबाद-201014
दूरभाषः 9818385001

डिजाइन व कम्पोजिंग
ग्रेटो इंटरप्राइजेज
जी-30, सरिता विहार, नई दिल्ली-110076
दूरभाषः 9910794578

प्रस्तावना

इस संस्करण में द्वितीय संस्करण की त्रुटियों में सुधार किया गया है, विशेषकर मूल श्लोक के पश्चात दिये गये सन्धिविच्छेद में। इतने संशोधन के पश्चात भी यह दावा नहीं किया जा सकता कि अब यह प्रस्तुति पूर्णतः त्रुटिरहित है क्योंकि परिपूर्ण तो केवल ईश्वर ही हो सकता है।

आशा है पाठकगण त्रुटियों की ओर ध्यान न देते हुए भगवान् द्वारा दिये सन्देश को समझकर जीवन में उतारने का प्रयास करेंगे।

निवेदक

रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत'

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

1. श्रीमद्भगवद्गीता का परिचय. 4
2. Introduction to Srimadbhagavadgita 7
3. पुस्तक परिचय. 9
4. Introduction to the Book..11
5. अध्याय 1. 13
6. अध्याय 2. 15
7. अध्याय 3. 32
8. अध्याय 4. 45
9. अध्याय 5. 56
10. अध्याय 6. 62
11. अध्याय 7. 78
12. अध्याय 8. 90
13. अध्याय 9. 96
14. अध्याय 10. 110
15. अध्याय 11. 117
16. अध्याय 12. 128
17. अध्याय 13. 135
18. अध्याय 14. 139
19. अध्याय 15. 147
20. अध्याय 16. 154
21. अध्याय 17. 166
22. अध्याय 18. 174
23. श्रीमद्भगवद्गीता के महत्त्वपूर्ण सन्देश. 188
24. श्रीमद्भगवद्गीता महात्म्यम्. 193
25. भजन. 195
26. प्रार्थना. 196

❖ ❖ ❖

श्रीमद्भगवद्गीता का परिचय

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान् वेदव्यास द्वारा रचित बृहद् ग्रन्थ महाभारत के भीष्म पर्व का अंश है जो महाभारत युद्ध के आरम्भ में अर्जुन के सारथी बने भगवान् ने उस समय सुनाई थी जब अर्जुन मोह के वश होकर युद्ध छोड़ने को तत्पर हो गया था। उस समय जो ज्ञान भगवान् ने अर्जुन को निमित्त बनाकर दिया था आज भी वह समाज के सभी वर्गों के लिये अत्यन्त उपयोगी है, अनिर्णय की स्थिति में मार्गदर्शन करने वाला है और करता रहेगा।

श्रीमद्भगवद्गीता एक ऐसा अद्भुत शास्त्र है जिसका श्रद्धापूर्वक अध्ययन, मनन किया जाय तो यह अर्थपूर्ण जीवन की कला भी सिखाती है व मरणोपरान्त मोक्षदायिनी भी है। इसकी तुलना का ज्ञान संसार के किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है क्योंकि यह स्वयं भगवान् के श्रीमुख से निकली वाणी है। ज्ञान के दृष्टिकोण से देखा जाये तो कहा जाता है कि वेदों का सार उपनिषद हैं और उपनिषदों का सार गीता है। इस पर आज तक अनेक सन्तों और विद्वानों ने चर्चा की है।

इस ग्रन्थ को पढ़ने व सुनने का अधिकार सबको है – बच्चा, जवान, बूढ़ा, स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सदाचारी, दुराचारी। गीता यदि वर्जित है तो केवल उनके लिये जो सुनने की इच्छा नहीं रखते तथा भगवान् में दोषदृष्टि रखते हैं। यही कारण है कि इस ग्रन्थ का अनुवाद विश्व भर की भाषाओं में किया गया है तथा बाइबिल के बाद यह सर्वाधिक पढ़ी जाने वाली पुस्तक है।

यह विडम्बना ही है कि जिस भारतवर्ष में भगवान् कृष्ण ने अवतार लिया, जिस धरती पर गीता का उद्भव हुआ, वहाँ इसका इतना वर्चस्व नहीं है जितना विदेशों में। कारण कि गीता में कहीं भी किसी धर्म

विशेष अथवा संप्रदाय का अनुमोदन या खण्डन नहीं किया गया है, केवल मानवता व कर्तव्य पालन का पाठ पढ़ाया गया है। इसीलिये यह ग्रन्थ अन्य धर्मों के समाज में भी सम्मानित है।

भारतवर्ष तथा विदेशों के अनेक महापुरुषों व विद्वानों ने गीता पर अपनी अपनी समझ के अनुसार भाष्य लिखे हैं, इस ज्ञान को अपने जीवन में उतारा है और अपने जीवन के उच्चतम शिखर को प्राप्त किया है।

यदि कहा जाय कि गीताकार ने गागर में सागर भर दिया है तो अतिशयोक्ति न होगी। इसीलिये तो गीता की रचना के पश्चात भगवान् वेदव्यास ने लिख भी दिया –

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यै शास्त्रविस्तरै

अर्थात् गीता को ही भली प्रकार से पढ़ना मनुष्य का कर्तव्य है, अन्य शास्त्रों से क्या प्रयोजन है।

न जाने क्यों हम भारतीय धर्म के नाम पर कर्मकाण्ड में सिमट कर रह गये हैं और शिक्षा का उद्देश्य धन कमाने तथा उसके माध्यम से शारीरिक सुख सुविधाओं में खुशी ढूँढना भर है चाहे उसके लिये नैतिक मूल्यों का त्याग ही क्यों न करना पड़े। हम इस वास्तविकता से अनभिज्ञ हैं कि विज्ञान के क्षेत्र में कितना भी विकास क्यों न कर लें, बिना आध्यात्मिक ज्ञान के सब खोखला है।

गीता अन्यायी से घृणा करना नहीं सिखाती और न ही अन्याय को मौन भाव से सहन करना सिखाती है। यह तो घृणा न करते हुए अन्यायी को दण्ड देना सिखाती है।

गीता कर्मकाण्ड का अनुमोदन नहीं करती बल्कि इस वास्तविकता से अवगत कराती है कि ईश्वर हमारे अन्दर ही वास करता है जिसका दर्शन हम कहीं भी और कभी भी ध्यान के द्वारा कर सकते हैं। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर – ये सब पतन के कारण भी

हमारे भीतर ही बसते हैं। इन शत्रुओं पर विजय पाने का उपाय भी गीता ही बताती है।

श्रीमद्भगवद्गीता हमें कर्मयोग का पाठ पढ़ाती है जिसका अनुसरण करके मनुष्य कर्तव्य परायणता व सत्कर्मों के आश्रय से ही परम पद की प्राप्ति कर सकता है।

महात्मा गाँधी ने कहा था – 'गीता मेरी माँ है। दुनिया द्वारा सताये जाने पर मैं गीता की शरण में जाता हूँ जैसे बच्चा अपनी माँ की गोद में जाता है।'

आज की परिस्थितियों में जब नैतिक मूल्यों का अत्यधिक ह्रास होता जा रहा है और युवा वर्ग शिक्षित होकर भी दुःखों से, अभावों से ग्रस्त है, गीता में भगवान् के द्वारा दिये गये उपदेश को धारण करना बहुत लाभकारी सिद्ध हो सकता है।

❖ ❖ ❖

Introduction to Srimadbhagavadgita

Srimadbhagavadgita contains divine words emanating from the mouth of God Himself. Its glory is infinite, unlimited. None can really describe it.

As a scripture, the Gita embodies the supreme spiritual mystery and secret. It contains the essence of all four Vedas. Its style is so simple and elegant that after a little study a man can easily follow the structure of its words; but the thought behind those words, is so deep that even a lifelong continuous study does not show the end of it. The topics of Action and Knowledge have been discussed in the Gita in such a way that its parallel cannot be found in any other book. The Gita is so incomparable that there is no word in it which is free from some instructive thought. The divine sage Vedavyasa himself says:–

"The Gita alone should be sung, heard, recited, studied, taught, pondered and assimilated properly and well. What is the use of collecting other scriptures? For the Gita has emerged directly from the lotus lips of God Vishnu Himself."

In the Gita itself the Lord openly declares that he who follows His instructions in the shape of the Gita, will undoubtedly attain liberation.

In case of noble souls, it is found that those who follow their teachings become dearer to them than their own life. The compiler of the Gita, Maharsi Vyasa recorded the words uttered by the Lord partly in verse and the part of it uttered in prose was versified by the compiler.

The salient feature of the Gita is that it neither supports any religion, caste or creed nor criticises contents of any epic or book nor it hurts the feelings of anybody. The Gita simply teaches the art of living by performing the duties according to one's nature acquired from many sources to which one is accustomed, without harming anybody, remaining aloof from selfish motives, with the intention of doing good for the society at large. It also presents God in real form. The Gita enables us to understand the concept of Brahm, Jiva and Maya or Prakriti.

The Gita does not recommend performance of rituals. On the contrary, it propagates the theory that God is everywhere – within us and outside us, is watching all our activities all the time and everywhere, that we have to reap the fruits of our own deeds, that the Jeevatma, a part of God never perishes and is reborn after death of the body.

Needless to say that to gain spiritual knowledge should be the primary aim of human life as without this basic knowledge, we cannot make effective use of mind, a rare gift of God with which the human being alone is endowed. All wordly knowledge acquired through text books may lead us to earn wealth or respect in the society but all these things are temporary and none of these is carried along when the Jiva leaves the body.

It may be concluded that the knowledge of the Gita must be acquired by all human beings by reading or listening from the learned.

❖ ❖ ❖

पुस्तक परिचय

श्रीमद्भगवद्गीता में 700 श्लोक हैं, जिनमें से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण 186 श्लोकों का चयन करके यह पुस्तक सम्पादित की गई है। उद्देश्य यह है कि जो जन समुदाय किसी कारणवश गीता को यथारूप पढ़ने या समझने में असमर्थ है अथवा पूरी गीता पढ़ने का समय नहीं निकाल पाता या जिसने आज तक गीता पढ़ी ही नहीं है, वह भी गीता के सन्देश को ग्रहण कर सके। इसीलिये इस पुस्तक का नाम 'गीता-प्रवेशिका' रखा गया है।

चयन किये गये सभी श्लोकों का संकलन गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित पुस्तकों से किया गया है। प्रत्येक श्लोक को चार रूपों में प्रस्तुत किया गया है –

1. मूल श्लोक
2. पदच्छेद
3. हिन्दी में भावार्थ
4. अंग्रेजी में भावार्थ

इसके पश्चात् प्रत्येक श्लोक अथवा श्लोक-समूह की व्याख्या लेखक ने अपने शब्दों में अपनी अल्प बुद्धि के आधार पर की है जिसमें अति साधारण व आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया है ताकि यह ज्ञान पाठक को अपनी पहुँच से बाहर न लगे। जो मूल रूप में श्लोक पढ़ने में रुचि रखते हैं उनकी सुविधा के लिये श्लोक का पदच्छेद भी उसके नीचे दे दिया गया है जिससे श्लोक का शुद्ध उच्चारण किया जा सके।

एक पाठक वर्ग (विशेषकर युवा पीढ़ी) ऐसा भी है जो केवल अंग्रेजी में ही सही अर्थ ग्रहण कर पाते हैं। ऐसे पाठक केवल अंग्रेजी रूप में पढ़ कर भी लाभ उठा सकते हैं।

इस पुस्तक के संकलन में यह ध्यान रखा गया है कि कोई महत्त्वपूर्ण श्लोक छूटने न पाये और न ही किसी सन्देश की पुनरावृत्ति हो। फिर भी त्रुटियाँ तो हुई ही होंगी, जिसके लिये लेखक क्षमा प्रार्थी है।

इस कार्य को करने की प्रेरणा मुझे मेरे गुरुदेव ब्रह्मलीन स्वामी रामानन्द जी महाराज से मिली थी और उन्हीं की कृपा से यह संकल्प पूरा हो पाया है। ऐसे गुरु के चरणों में शत शत नमन।

आशा है जिज्ञासु साधक इस पुस्तक से वांछित लाभ उठा पाएंगे।

रमेश चन्द्र गुप्त 'विनीत'

❖ ❖ ❖

Introduction to the Book

Srimadbhagvadgita contains 700 verses out of which 186 verses have been selected with the motive that the persons who are interested in Gita but are not able to read the full volume of this pious book for paucity of time or not able to understand its contents because of language or other reasons, may find it easy to apprehend. That is why the book has been named as "Gita for the Beginners".

All the verses included in this book have been borrowed from the publications of Gitapress Gorakhpur with due gratitude. Each verse has been put in four types:–

1. Original form
2. In treaty severance form
3. Gist in Hindi, and
4. Gist in English

In the end of the above, the writer has tried to narrate the implication of the verse in plain language which can easily be understood by a layman. Those who are interested in reading the original verse may use the second form for correct pronunciation.

Besides, there is a class of readers who is more comfortable in English than Hindi. For such readers, the English version has been given below each verse. In the end, the writer has summed up the important messages conveyed by Shri Krishna in this epic for the good of mankind.

An attempt has been made to sum up the Gita in short keeping in mind that no message is repeated and no important message is left out as well. Still, errors and omissions cannot be ruled out as the writer does not claim to be a scholar of Gita and he humbly apologises for such errors and omissions.

Hope this tiny effort will serve its purpose of spreading the message of the Gita amonst the masses who need it most.

In the end, I must express my gratitude to my revered Guru Shri Swami Ramanand ji Maharaj who has not only motivated me for this noble task but also has been guiding throughout from heavens.

Ramesh Chandra Gupta 'Vineet'

❖ ❖ ❖

अध्याय 1

इस अध्याय को **'अर्जुन-विषाद योग'** नाम दिया गया है। इसमें कुल 47 श्लोक हैं जिसमें से केवल एक श्लोक का चयन किया गया है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार युद्ध के दोनों पक्षों में अपने सगे-सम्बन्धियों को देखकर तथा स्वयं के हाथों उनकी मृत्यु की कल्पना करके अर्जुन विषाद-ग्रस्त हो गया था और धनुष-बाण छोड़कर रथ के पिछले भाग में बैठ गया था। उस समय शोक-युक्त होकर अर्जुन ने जो कुछ कहा वह श्लोक 45 में दर्शाया गया है। इस एक श्लोक से ही पहले अध्याय का आशय स्पष्ट हो जाता है।

अर्जुन उवाच —

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ 45॥

अहो, बत, महत्, पापम्, कर्तुम्, व्यवसिताः, वयम्,
यत्, राज्य-सुख-लोभेन, हन्तुम्, स्वजनम्, उद्यताः।

अर्जुन ने कहा — हा! शोक! हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करने को तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं।

Arjuna said : Oh, what a pity! Though possessed of intelligence we have set our mind on the commission of a great sin; that due to lust for throne and enjoyment we are intent on killing our own kinsmen.

व्याख्या – यही है अर्जुन का विषाद जिसके कारण इस अध्याय का नाम अर्जुन-विषाद-योग रखा गया है। वास्तव में अर्जुन का विषाद

ही गीता की आधार-शिला है। अर्जुन एक प्रबुद्ध व तर्कशील वर्ग का प्रतिनिधि है। उसके सारे प्रश्न ऐसे ही हैं जैसे स्वयं को ज्ञानी समझने वाले हम सभी के मन में उठते रहते हैं। इसीलिये आज भी गीता हमारे लिये अत्यन्त उपयोगी है।

युद्ध के दोनों ही पक्षों में अपने स्वजन, सम्बन्धी, गुरुजन, पितामह आदि को खड़े देखकर, युद्ध के बाद की स्थिति का पूर्वावलोकन करके अर्जुन व्याकुल हो जाता है। जब सभी अपने मारे जायेंगे तो राज्य किसके लिये? और फिर गुरुजनों को मारकर जो पाप का भागी बनना पड़ेगा सो अलग। वह तर्क प्रस्तुत करता है सुनी सुनाई बातों का, जिनके अनुसार पाप बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी, जिनसे वर्णसंकर उत्पन्न होगा जो पितरों के लिये नरक का कारण होता है। उसके अंग शिथिल हो जाते हैं और उसका शक्तिशाली गांडीव धनुष हाथ से गिर जाता है और वह 'युद्ध नहीं करूँगा' कहकर चुप हो जाता है।

❖ ❖ ❖

अध्याय 2

इस अध्याय को **'सांख्य योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 72 श्लोक हैं जिसमें से 15 श्लोकों का चयन किया गया है। इस अध्याय के मुख्य विषय ये हैं – अर्जुन द्वारा किंकर्तव्यविमूढ़ होकर भगवान् की शरण लेना, भगवान् द्वारा आत्मा की अमरता का उपदेश, क्षत्रिय-धर्म का पालन करने पर बल देना, निष्काम कर्मयोग का निरूपण, स्थिरबुद्धि पुरुष के लक्षण।

श्रीभगवानुवाच —

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ 2॥

कुतः, त्वा, कश्मलम्, इदम्, विषमे, समुपस्थितम्, अनार्य-जुष्टम्, अस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरम्, अर्जुन।

श्रीभगवान् बोले — हे अर्जुन! तुझे इस असमय में यह मोह किस हेतु प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित है, न स्वर्ग को देने वाला है और न कीर्तिको करने वाला ही है।

Śrī Bhagvān said : Arjuna, how has this infatuation overtaken you at this odd hour? It is shunned by noble souls; neither will it bring heaven nor fame to you.

व्याख्या – भगवान् का उपदेश यहीं से, अर्जुन को डाँटने से शुरू होता है। अपनी समझ से तो अर्जुन बहुत ज्ञान की बात करता है किन्तु भगवान् कहते हैं यह ज्ञान समयानुकूल नहीं है। इसी कारण इसको मोह कहा। अगले श्लोक में तो इसको नपुंसकता भी कहा है।

कुछ लोग कहते हैं कि गीता का ज्ञान देने का समय व स्थान युद्ध-स्थल कैसे हो सकता है। ध्यान रहे कि ज्ञान की शुरुआत तो अर्जुन ने ही की थी। प्रथम अध्याय में तो पूरे समय अर्जुन ने ही ज्ञान बताया था, भगवान् ने तो एक शब्द भी नहीं कहा। वह अर्जुन के ज्ञान की थाह लेना चाह रहे थे। कहीं वह अपने समक्ष अपनी सेना से डेढ़ गुणा से भी अधिक सेना और वह भी भीष्म, कर्ण, द्रोण आदि महान् योद्धाओं से युक्त, को देखकर भयभीत तो नहीं हो गया। अथवा वह सचमुच राज्य व सुख का लोभ छोड़कर संन्यासी बनने का इच्छुक है। यदि ऐसा है तो इससे पूर्व के किसी युद्ध में अर्जुन को ऐसा विचार क्यों नहीं आया। इन दोनों ही सम्भावनाओं पर दृष्टि रखते हुए भगवान् अपना उपदेश आरम्भ करते हैं।

सबसे प्रथम कहते हैं – **विषमे समुस्थितम्** – अर्थात् समय व परिस्थिति के विपरीत विचार कहाँ से आया। अर्जुन कहता है कि सब कुछ छोड़कर भिक्षा का अन्न खाकर भी गुज़ारा कर सकता हूँ पर अपने गुरुजनों पर बाण नहीं चला सकता। सब कुछ ठीक है परन्तु यह बात युद्ध के मैदान में खड़े होकर सोचने की तो नहीं।

अगले चुनिन्दा श्लोक 7 में अर्जुन खुलकर अपनी दुविधा स्वीकार कर लेता है। वह कह उठता है –

अर्जुन उवाच —

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ 7॥

कार्पण्य–दोष–उपहत–स्वभावः, पृच्छामि, त्वाम्, धर्म–सम्मूढ–चेताः, यत्, श्रेयः, स्यात्, निश्चितम्, ब्रूहि, तत्, मे, शिष्यः, ते, अहम्, शाधि, माम्, त्वाम्, प्रपन्नम्।

अर्जुन ने कहा — इसलिये कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषय में मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिए; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।

Arjuna said : With my very being smitten by the vice of faint-heartedness and my mind puzzled with regard to duty, I beseech You! Tell me that which is decidedly good; I am your disciple. Pray, instruct me, who have taken refuge in You.

व्याख्या – अर्जुन कहता है – मैं मानता हूँ कि युद्ध का यह सारा आयोजन मैंने ही किया है किन्तु ऐसी परिस्थिति का पूर्वानुमान मैं नहीं लगा पाया था जिसमें दोनों पक्षों में अपने ही सगे सम्बन्धी खड़े होंगे। अब मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया हूँ, यह निर्णय करने में सक्षम नहीं रह गया हूँ कि मुझे इन से युद्ध करना चाहिये अथवा नहीं। अब मैं आपकी शरण हूँ, आपका शिष्य हूँ, आप ही मुझे शिक्षा दीजिये कि मेरे लिये क्या करना श्रेयस्कर होगा।

अर्जुन एक भावुक व्यक्ति था, इसी अवसर के लिये उसने भगवान् को अपना सारथी बनाया था जिसके बदले उसने दो अक्षौहिणी सेना का नुकसान उठाया था। इस श्लोक से हमें दो बातें सीखने को मिलती हैं –

1. जब हमारी बुद्धि कोई निर्णय न कर पा रही हो तो भगवान् की शरण में जाना चाहिये।

2. जब किसी से Guidance लेनी हो तो अर्जुन की भाँति विनीत होना आवश्यक है – **शिष्यस्तेऽहम्**। अब भगवान् कहते हैं –

श्रीभगवानुवाच –

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ 11॥

अशोच्यान्, अन्वशोचः, त्वम्, प्रज्ञावादान् च भाषसे,
गत–असून्, अगत–असून्, च, न, अनुशोचन्ति, पण्डिताः।

श्रीभगवान् बोले – हे अर्जुन! तू न शोक करने योग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचन कहता है; परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी पण्डित शोक नहीं करते।

Śrī Bhagvān said : Arjuna, you grieve over those who should not be grieved for and yet speak like the learned; wise men do not sorrow over the dead or the living.

व्याख्या – भगवान् का उपदेश यहीं से शुरू होता है। एक तो अर्जुन ऐसे लोगों के लिये शोक कर रहा है जो शोक के योग्य नहीं हैं बल्कि दण्ड के योग्य हैं। यदि अपने पक्ष के लोगों के लिये शोक कर रहा है तो भी उचित नहीं है क्योंकि पण्डित अर्थात् प्रबुद्ध लोगों के लिये युद्ध का मैदान शोक करने के लिये नहीं है। युद्ध में जान गँवाने वाले वीर गति को प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञानी लोग मरने या जीने के विषय में शोक नहीं करते क्योंकि वे जानते हैं कि मौत तो अवश्यम्भावी है, कभी न कभी सभी को मरना ही है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ 13॥

देहिनः, अस्मिन्, यथा, देहे, कौमारम्, यौवनम्, जरा, तथा, देह–अन्तर–प्राप्तिः, धीरः, तत्र, न, मुह्यति।

जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।

Just as boyhood, youth and old age are attributed to the soul through this body, even so it attains another body. The wise man does not get deluded about this.

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ 16॥

न, असतः, विद्यते, भावः, न, अभावः, विद्यते, सतः, उभयोः, अपि, दृष्टः, अन्तः, तु, अनयोः, तत्त्व–दर्शिभिः।

असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।

The unreal has no existence, and the real never ceases to be; the reality of both has thus been perceived by the seers of Truth.

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ 17॥

अविनाशि, तु, तत्, विद्धि, येन्, सर्वम्, इदम्, ततम्, विनाशम्, अव्ययस्य, अस्य, न, कश्चित्, कर्तुम्, अर्हति।

नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है।

Know that alone to be imperishable which pervades this universe; for no one has power to destroy this indestructible substance.

श्लोक 16 व 17 की व्याख्या —

असत् वस्तु की सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। सत् को नित्य व असत् को अनित्य भी कहा जाता है। नित्य वह है जो हर समय हर स्थान पर रहता है। पास से पास भी है, दूर से दूर भी। दूर इतना कि जितनी दूरी की हम कल्पना कर सकते हैं उससे भी दूर वह विद्यमान है। पास इतना कि हमारे शरीर के अन्दर भी है, उसको ढूँढने के लिये कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। बृहत् इतना कि पूरे विश्व में फैला हुआ है, सूक्ष्म इतना कि किसी सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से भी न दिखे। सत्य ऐसा कि उसे कहीं भी झुठलाया नहीं जा सकता जैसे कहें कि अन्धकार सूर्य के समक्ष नहीं ठहर सकता। इसके विपरीत असत्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। असत् वस्तु केवल कुछ समय के लिये प्रतीत होती है, बाद में उसका रूप बदल जाता है, पुरानी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रहता जैसे प्रकृति, जिसका रूप प्रति क्षण बदलता रहता है, आयु प्रति क्षण घटती रहती है, हम जो कल थे वह आज नहीं हैं। न दिन हर समय रहता है न रात्रि क्योंकि ये असत् हैं परन्तु सूर्य हर समय रहता है क्यों कि यह सत् है। इसी प्रकार परमात्मा भी सत् है, अविनाशी है, वह सदा और सब स्थान पर है, उसका नाश हो ही नहीं सकता परन्तु उसे प्रकट करने के लिये यत्न करना पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा भी है–

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रकट होहिं मैं जाना॥

इसी प्रकार जीवात्मा का विनाश भी असम्भव है।

ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा–
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ 22॥

वासांसि, जीर्णानि, यथा, विहाय, नवानि, गृह्णाति, नरः, अपराणि, तथा, शरीराणि, विहाय, जीर्णानि, अन्यानि, संयाति, नवानि, देही।

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।

As a man shedding worn-out garments, takes other new ones, likewise, the embodied soul, casting off worn-out bodies, enters into others that are new.

व्याख्या – भगवान् समझ गये थे कि युद्धभूमि में हथियार डालने के पक्ष में अर्जुन के दो मुख्य तर्क थे। एक, वह अपनी आँखों के सामने अपने सगे-सम्बन्धियों व मित्रों को मरते हुए नहीं देख सकता था। दूसरा विचार उसके मन में यह था कि उन सबको मारकर वह घोर पाप का भागी बनेगा। इन तर्कों के उत्तर में भगवान् ने सर्वप्रथम आत्मा की अमरता का रहस्योद्घाटन करना ही उचित समझा। अतः श्लोक 12 से 30 तक शब्द बदल-बदल कर एक ही सन्देश दिया है कि आत्मा कभी मरती नहीं, केवल शरीर ही नष्ट होता है। आत्मा शरीर छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण कर लेती है, जिस प्रकार मनुष्य

फटे-पुराने वस्त्र त्यागकर नये वस्त्र धारण कर लेता है। और यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। जिस प्रकार शरीर प्रतिक्षण बदलता हुआ बचपन से जवानी, जवानी से बुढ़ापे की ओर बढ़ता रहता है, ठीक उसी प्रकार मृत्यु की ओर बढ़ता है। यह घटना सभी जीवों के लिये अवश्यम्भावी है, इसे कोई नहीं टाल सकता। ये सभी लोग अर्जुन द्वारा न मारे जाने पर भी मरने ही वाले हैं। अतः मारने का पाप अर्जुन को नहीं लगेगा।

यह वह दुर्लभ ज्ञान है जो कठोपनिषद में यम ने नचिकेता को कठिन परीक्षा के बाद दिया था। किन्तु यह सर्वोच्च ज्ञान था। इससे समाधान होने वाला नहीं था। यहाँ तो अर्जुन को युद्ध करने अथवा न करने की दुविधा से निकालना था। अतः भगवान् ने दूसरे ढंग से भी समझाया। स्वधर्म का वास्ता देते हुए बताया कि क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर कोई कर्तव्य नहीं है (श्लोक 31)। बल्कि यदि वह युद्ध नहीं करेगा तो कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा (श्लोक 33)। इसके विपरीत यदि युद्ध करेगा तो मरने पर स्वर्ग को प्राप्त होगा और जीतने पर पृथ्वी का राज्य भोगेगा (श्लोक 37)। जहाँ तक पाप का प्रश्न है तो यदि अर्जुन जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख को समान समझकर युद्ध करेगा तो कोई पाप नहीं लगेगा।

यहाँ से कर्मयोग की शिक्षा प्रारम्भ होती है। वेद की वाणी का सहारा लेकर भोलेभाले लोगों को स्वर्ग-नरक का डर दिखाकर कर्मकाण्ड के जाल में फँसाने वाले लोगों की यहाँ भरपूर भर्त्सना की गई है। (श्लोक 42-45)। जहाँ कर्मयोग के मार्ग को अपना कर सीधे परमात्मा के धाम में पहुँचने की युक्ति बताई जा रही है वहाँ स्वर्ग-नरक की प्राप्ति तो निरर्थक हो जाती है क्योंकि इनको भोगकर अवधि समाप्त होने पर संसार में वापस आना पड़ता है जबकि परमात्मा की प्राप्ति होने पर वापस नहीं आना पड़ता।

अब आगे के श्लोकों में तथा अध्यायों में कर्मयोग पर प्रकाश डाला जायेगा। गीता में ईश्वर-प्राप्ति ही मानव-जीवन का उद्देश्य बताया गया है और ईश्वर प्राप्ति के तीन मार्ग बताये गये हैं – कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। अपनी-अपनी रुचि व संस्कारों के आधार पर साधक लोग अपना मार्ग चुन लेते हैं, परन्तु इतना समझना आवश्यक है कि इन तीनों में से कोई भी योग स्वयं में पूर्ण नहीं है। किसी एक योग को मुख्य-रूप से अपनाते हुए शेष योगों का सहारा भी लेना पड़ता है।

कर्मयोग का आरम्भ करने से पूर्व भगवान् ने एक Pre-condition भी बता दी। वह है – योगी होना और योगी का पहला लक्षण है – समता, स्थित-प्रज्ञता। इस विषय का पहला श्लोक है यह –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ 47॥

कर्मणि, एव, अधिकारः, ते, मा, फलेषु, कदाचन,
मा, कर्मफलहेतुः, भूः, मा, ते, सङ्गः, अस्तु, अकर्मणि।

तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।

Your right is to work only and never to the fruit thereof. Do not consider yourself to be the cause of the fruit of action; nor let your attachment be to inaction.

व्याख्या – यह श्लोक कर्मयोग की आधारशिला है। केवल कर्तव्य कर्म करना है। फल जितना भी मिले, जिस रूप में भी मिले, जब भी मिले, कम मिले, अधिक मिले, उससे कोई सरोकार नहीं रखना। इसका अर्थ यह भी न लगायें कि सब कर्म छोड़कर अकर्मण्य अथवा आलसी बन कर बैठ जायें। यह तो निश्चित है कि जो भी काम हम

करेंगे उसका फल तो अवश्य मिलेगा। आलसी होना भी एक प्रकार का कर्म है – समय को व्यर्थ गँवाना। उसका फल भी मिलेगा। किन्तु फल के निर्णायक हम स्वयं नहीं हो सकते। एक ही कम्पनी में अनेकों कार्यकर्ता उतने ही समय कार्य करते हैं फिर भी वेतन, पोस्टिंग व पदोन्नति मालिक की मर्ज़ी से सबको अलग-अलग मिलते हैं। यदि सभी कर्मचारियों को अपना-अपना वेतन निर्धारित करने की छूट मिल जाये तो पूरी अव्यवस्था फैल जायेगी।

यही कर्मयोग है। इसी को निष्काम कर्म भी कहा जाता है। जो फल की इच्छा से किया जाता है उसे सकाम कर्म कहा जाता है। कर्म अर्थात् सकाम कर्म एवं कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्म।

कर्मयोग का अभ्यास तभी सम्भव हो पायेगा जब हम स्वयं को सेवक समझें और भगवान् को स्वामी। सेवक का कार्य होता है मालिक की इच्छा से काम करना, मालिक का काम करना और मालिक को सौंप देना। एक कपड़े सिलने की फैक्टरी में दर्जी लोग मालिक की मर्जी के अनुसार कपड़े सिलते हैं। उसमें कपड़ा सिलने से पहले भी मालिक का था, सिलने के बाद भी। उसको बेचकर मालिक को लाभ हो या हानि, इससे भी उसको मतलब नहीं होता। इस प्रकार दर्जी तनाव-मुक्त रहता है। इसी प्रकार हम समझें – काम भी भगवान् का, फल भी भगवान् का। हम तो केवल यन्त्र हैं उसके हाथों में।

कर्म करने की स्वतन्त्रता इसलिये बताई क्योंकि उपरोक्त उदाहरण में कपड़ा मालिक का है, मशीन व अन्य उपकरण भी मालिक के हैं, किन्तु उसको सही डिजाइन व साइज का बनाना या न बनाना दर्जी के हाथ में है। यदि वह साधनों का दुरुपयोग करके मालिक की मर्जी के अनुसार कार्य नहीं करता है तो नौकरी से निकाला भी जा सकता है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ 48॥

योगस्थः, कुरु, कर्माणि, सङ्गम्, त्यक्त्वा, धनञ्जय,
सिद्धि–असिद्ध्योः, समः, भूत्वा, समत्वम्, योगः, एच्यते।

हे धनंजय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर, समत्व ही योग कहलाता है।

Arjuna, perform your duties established in Yoga, renouncing attachment, and be even-minded in success and failure; evenness of mind is called 'Yoga'.

व्याख्या – ऊपर बताये गये तीनों योगों में प्रवेश से पहले भगवान् ने योग की परिभाषा बताना आवश्यक समझा। भगवान् कहते हैं – सर्वप्रथम द्वंद्वों से प्रभावित होना छोड़ना पड़ेगा। समत्व का अर्थ है बुद्धि की स्थिरता अर्थात् चंचलता का अभाव। कार्य सिद्ध हो अथवा न हो, दोनों ही स्थितियों में सम रहना। यह स्थिति तभी आ सकती है जब मनुष्य अपने कर्तव्य का निर्णय करके उसके निभाने मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है जो इससे पहले के श्लोक संख्या 47 में बता चुके हैं।

श्लोक 48 में जो समत्व की बात कही गई है उसके लिये बुद्धि का स्थिर होना आवश्यक बताया गया है। अर्जुन के पूछने पर भगवान् कहते हैं –

स्थितप्रज्ञ के लक्षण –

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ 55॥

प्रजहाति, यदा, कामान्, सर्वान्, पार्थ, मनोगतान्,
आत्मनि, एव, आत्मना, तुष्टः, स्थितप्रज्ञः, तदा, उच्यते।

हे अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

O Arjuna, when one thoroughly casts off all carving of the mind, and is satisfied in the self through the joy of the self, he is then called stable of mind.

व्याख्या – स्थितप्रज्ञ के लिये दो लक्षण आवश्यक बताये – एक सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग, दूसरा आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट। एक होती है आवश्यकता, एक कामना। आवश्यकतायें सीमित होती हैं, कामनाएं असीमित। शरीर को चलाने के लिये जो चीज़ें ज़रूरी हैं, जैसे रोटी (अथवा भोजन) वस्त्र व आवास, वे आवश्यकताओं की श्रेणी में आती हैं। कामनाओं का कोई अन्त नहीं है। एक पूरी होते ही दूसरी जागृत हो जाती है। इनकी सूची बहुत लम्बी है। कभी-कभी व्यक्ति भौतिक आवश्यकताओं से तृप्ति का अहसास कर भी ले, तो अपेक्षायें घेर लेती हैं, दूसरों से विशेष प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा, मान-सम्मान, कीर्ति की अपेक्षा। एक पौराणिक कथा के अनुसार दक्ष प्रजापति शंकर भगवान् से इस बात पर रुष्ट हो गये थे कि अन्य देवताओं की भाँति उन्होंने खड़े होकर उनका अभिवादन नहीं किया था। इसी आकांक्षा का परिणाम यह हुआ कि सती का प्राण त्याग हुआ; यज्ञ विध्वंस हुआ और दक्ष का सिर काटा गया। इसलिये कहा गया कामनाओं का पूर्ण रूप से त्याग आवश्यक है स्थितप्रज्ञ होने के लिये।

दूसरी बात कही गई – **आत्मनि एव आत्मना तुष्टः** – स्वयं को पूर्ण समझकर सन्तुष्ट रहना। हमें जो भी प्राप्त है तथा औरों को भी जो भी प्राप्त है वह अपने अपने पूर्व कर्मों पर आधारित है – यह सोचकर सन्तुष्ट रहना। मुझे ईश्वर ने सभी कुछ दिया है, हाथ, पाँव, नेत्र, कान – सभी अंग सलामत हैं, हम सब कुछ करने में स्वतन्त्र

हैं। कहते भी हैं बहुत दिया देने वाले ने तुझ को, आंचल ही न समाये तो क्या कीजे।

कुछ लोग कहते हैं – कामना नहीं होगी तो पुरुषार्थ क्यों करेंगे। पुरुषार्थ करेंगे तो कामना पूर्ति के सुख की अनुभूति भी होगी, परन्तु इस सुख के साथ कामनापूर्ति में विघ्न पड़ने से होने वाले दुःख के लिये भी तैयार रहना चाहिये। कामनापूर्ति के बाद सुख मिलता भी है तो वह क्षणिक होता है।

कामना का अर्थ है सांसारिक वस्तुओं की कामना। कामना रहित व्यक्ति निष्क्रिय नहीं हो जाता। उसमें कामना की प्रेरणा का स्थान भागवत–संकल्प ले लेता है। ऐसा व्यक्ति जो भी कार्य करता है वह कर्तव्य पालन के लिये होता है, लोकहित के लिये होता है, स्वार्थ–रहित होता है, संग्रह–परिग्रह की प्रवृत्ति से परे होता है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 58॥

यदा, संहरते, च, अयम्, कूर्मः, अङ्गानि, इव, सर्वशः, इन्द्रियाणि, इन्द्रियार्थेभ्यः, तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता।

और कछुवा सब ओरसे अपने अंगोंको जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिये)।

When, like a tortoise that draws in its limbs from all directions, he withdraws all his senses from the sense-objects, his mind becomes steady.

व्याख्या – कछुए का उदाहरण देकर समझाने की चेष्टा की गई है। कछुए में अपने हाथ, पैर व मुँह अपने धड़ में छुपाने की क्षमता होती

है। वह इन अंगों से यथायोग्य काम लेता है किन्तु जैसे ही कोई संकट आता हुआ प्रतीत होता है, वह तुरन्त इन अंगों को अपने बदन में समेट लेता है और उसकी पीठ इतनी सुदृढ़ होती है कि उस पर कोई प्रहार असर नहीं करता। इसी प्रकार मनुष्य को चाहिये कि अपनी सभी इन्द्रियों से यथायोग्य काम ले किन्तु जब देखे कि वे विषयों की ओर आकर्षित हो रही हैं तो तुरन्त उसको किसी अन्य काम में लगा दे। इस कार्य में मनुष्य सक्षम है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ 59॥

विषयाः, विनिवर्तन्ते, निराहारस्य, देहिनः,
रसवर्जम्, रसः, अपि, अस्य, परम्, दृष्ट्वा, निवर्तते।

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।

Sense-objects turn away from him, who does not enjoy them with his senses; but the taste from them persists. This relish also disappears in the case of the man of stable mind when he realizes the Supreme.

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ 60॥

यततः, हि, अपि, कौन्तेय, पुरुषस्य, विपश्चितः,
इन्द्रियाणि, प्रमाथीनि, हरन्ति, प्रसभम्, मनः।

हे अर्जुन! आसक्ति का नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात् हर लेती हैं।

Turbulent by nature, the senses (not free from attachment) even of a wise man, who is practising self-control, forcibly carry away his mind. Arjuna.

व्याख्या – उपरोक्त दो श्लोकों में भगवान् अर्जुन को समझा रहे हैं कि इन्द्रियों के द्वारा विषयों का आस्वादन न करने पर भी उनमें आसक्ति रह जाती है और यदि विषयों की ओर आकर्षण है तो मनुष्य कितना भी बुद्धिमान हो, यत्नशील हो, इन्द्रियाँ इतनी बलवान होती हैं कि उसके मन को विचलित कर देती हैं, और यह रस तभी समाप्त होता है जब वह परम प्रभु का दर्शन कर लेता है क्योंकि उसके समक्ष सभी रस फीके पड़ जाते हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 61 ॥

तानि, सर्वाणि, संयम्य, युक्तः, आसीत, मत्परः,
वशे, हि, यस्य, इन्द्रियाणि, तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता।

इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे, क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

Therefore, having controlled all the senses and concentrating his mind, he should sit for meditation, devoting himself heart and soul to Me. For, he whose senses are under his control, is known to have a stable mind.

व्याख्या – यहाँ बताया गया है कि जब तक साधक की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पूरी तरह से वश में नहीं हो जाती तब तक उसकी बुद्धि स्थिर नहीं हो पाती और उसके लिये प्रतिदिन ध्यान में बैठना आवश्यक है। यदि इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं तो मनुष्य के मन को कोई भी इन्द्रिय विचलित कर सकती है जिस प्रकार जल में बहती हुई नाव को वायु कहीं भी बहा ले जाती है। इस प्रकार व्यक्ति अपने किसी भी उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाता। इसके बाद वाले श्लोकों में भगवान् ने बताया है कि मन यदि वश में नहीं है, भगवान् की ओर नहीं लगा है तो वह पुरुष विषयों का, सांसारिक भोगों का चिन्तन करता रहता है जिससे उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, उनको भोगने के साधन जुटाने में लग जाता है और यदि इनको जुटाने में सफलता नहीं मिलती तो क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम होने से ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अपनी स्थिति से गिर जाता है।

ऐसे अनेकों उदाहरण शास्त्रों में मिलते हैं। नारद जैसे देवर्षि भी कामना की पूर्ति न होने से इतने क्रोधित हो गये थे कि भगवान् को ही मृत्यु लोक में आने का शाप दे डाला।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं–
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ 70॥

आपूर्यमाणम्, अचलप्रतिष्ठम्, समुद्रम्, आपः, प्रविशन्ति, यद्वत्, तद्वत्, कामाः, यम्, प्रविशन्ति, सर्वे, सः, शान्तिम्, आप्नोति, न, कामकामी।

जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परमशान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं।

As the waters of different rivers enter the ocean, which though full on all sides, remains undisturbed; likewise, he in whom all enjoyments merge themselves without causing disturbance attains peace; not he who hankers after such enjoyments.

व्याख्या – इस श्लोक में भगवान् कहते हैं कि जब मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है तो न तो उसे संसार से भागने की आवश्यकता है और न सांसारिक भोगों से डरने अथवा दूर रहने की। उसकी इन्द्रियाँ व मन इतने शान्त व सबल हो चुके होते हैं कि सांसारिक विषय भोग उसे विचलित नहीं कर पाते जैसे जल से परिपूर्ण समुद्र में सभी ओर से उसमें मिलने वाली नदियाँ उसको बिना विचलित किये ही समा जाती हैं। स्थितप्रज्ञ पुरुष करेले व रसगुल्ले के स्वाद में अन्तर नहीं समझता। मान–अपमान, सरदी–गरमी, दुःख–सुख सभी अवस्थाओं में वह सम रहता है। इस प्रकार स्थितप्रज्ञ पुरुष परम शान्ति व प्रसन्नता को प्राप्त कर लेता है। दुनिया की कोई वस्तु या स्थिति उसे अपने मार्ग से हटा नहीं सकती, न ही उसे कोई भय रह जाता है, मृत्यु का भी।

❖ ❖ ❖

अध्याय 3

इस अध्याय को **'कर्म योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 43 श्लोक हैं जिसमें से 16 श्लोकों का चयन किया गया है। इस अध्याय के मुख्य विषय ये हैं – आसक्ति छोड़कर करने योग्य कर्म करने की प्रेरणा, कर्मों को त्यागकर मन से उनका चिन्तन करने की भर्त्सना, अपने तथा जनक आदि ज्ञानी जनों के उदाहरण द्वारा कर्मों की आवश्यकता बताना, सभी कर्मों को भगवान् के अर्पित करने से पाप न लगना, अपने धर्म की श्रेष्ठता बताना, राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि से बचना तथा आत्मा को मन, बुद्धि आदि का स्वामी बताना।

अर्जुन उवाच —

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ 1 ॥

ज्यायसी, चेत्, कर्मणः, ते, मता, बुद्धिः, जनार्दन,
तत्, किम्, कर्मणि, घोरे, माम्, नियोजयसि, केशव।

अर्जुन ने कहा – हे जनार्दन! यदि आपको कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव! मुझे भयंकर कर्ममें क्यों लगाते हैं?

Arjuna said : Krsna, if You consider Knowledge as superior to Action, why then do You urge me to this dreadful action, Kesava?

व्याख्या – इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि अर्जुन! मैंने तुझे कर्म करने से तो मना किया ही नहीं है। वास्तव में कर्म किये बिना तो मनुष्य क्षण भर भी नहीं रह सकता। यदि तू शरीर से कर्म करना छोड़

भी दे तो मन से करेगा। पिछले अध्याय में जिस ज्ञान की चर्चा की गई है वह ज्ञानयोगियों के लिये वरणीय है, यद्यपि कर्म तो ज्ञानयोगियों को भी करना पड़ता है। परन्तु अर्जुन! तेरी निष्ठा कर्म में है, अतः मैं तुझे कर्मयोग का रहस्य बतलाता हूँ जिसे समझ कर, अपनाकर तू युद्ध करता हुआ भी ईश्वर को प्राप्त कर सकेगा।

श्रीभगवानुवाच —

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ 6॥

कर्मेन्द्रियाणि, संयम्य, यः, आस्ते, मनसा, स्मरन्,
इन्द्रियार्थान्, विमूढात्मा, मिथ्याचारः, सः, उच्यते।

श्रीभगवान् बोले — जो मूढ़बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।

Śrī Bhagvān said : He who outwardly restraining the organs of sense and action, sits mentally dwelling on the objects of senses, that man of deluded intellect is called a hypocrite.

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ 7॥

यः, तु, इन्द्रियाणि, मनसा, नियम्य, आरभते, अर्जुन,
कर्मेन्द्रियैः, कर्मयोगम्, असक्तः, सः, विशिष्यते।

किन्तु हे अर्जुन! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है।

On the other hand, he who controlling the organs of sense and action by the power of his will, and remaining unattached, undertakes the Yoga of selfless Action through those organs, Arjuna, he excels.

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ 8॥

नियतम्, कुरु, कर्म, त्वम्, कर्म, ज्यायः, हि, अकर्मणः, शरीरयात्रा, अपि, च, ते, न, प्रसिद्ध्येत्, अकर्मणः

तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा।

Therefore, do you perform your alloted duty; for action is superior to inaction. Desisting from action, you cannot even maintain your body.

श्लोक 6, 7 व 8 की व्याख्या —

इन श्लोकों में भगवान् समझाते हैं कि जो मनुष्य पाप के भय से कर्म से परहेज करता है परन्तु मन से विषयों का चिन्तन करता रहता है वह दम्भी है, मिथ्याचारी है, hypocrite है। यह कटाक्ष है उन लोगों पर जो ज्ञानी व श्रेष्ठ होने का अभिनय करते हैं, दूसरे भोले-भाले लोगों से अपनी पूजा करवाते हैं, चढ़ावा लेते हैं, धन का त्याग करने की प्रेरणा देकर उनका मेहनत का कमाया हुआ धन हर लेते हैं और मन से विषयों के भोग की लालसा रखते हैं। ऐसे लोग दुगने पाप के भागी होते हैं – एक तो बिना रचनात्मक कार्य किये अन्नादि का भोग, दूसरा लोगों को धोखा देना।

इसके विपरीत उन लोगों की प्रशंसा की गई है जो इन्द्रियों को भलीभाँति वश में रखते हुए स्वार्थ रहित लोकसेवा के कार्य में लगे रहते हैं, दिखावा नहीं करते, श्रेय भी नहीं लेते। इसलिये यहाँ भगवान् अर्जुन को आदेश देते हैं कि तू शास्त्रविहित कर्म कर। कर्म करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है क्योंकि कर्म के बिना शरीर–निर्वाह भी सम्भव नहीं है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ 9॥

यज्ञार्थात्, कर्मणः, अन्यत्र, लोकः, अयम्, कर्मबन्धनः, तदर्थम्, कर्म, कौन्तेय, मुक्तसङ्गः, समाचर।

यज्ञ के निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ ही यह मनुष्यसमुदाय कर्मोंसे बँधता है। इसलिये हे अर्जुन! तू आसक्तिसे रहित होकर उस यज्ञके निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्यकर्म कर।

Man is bound by his own action except when it is performed for the sake of sacrifice. Therefore, Arjuna, do you efficiently perform your duty, free from attachment, for the sake of sacrifice alone.

व्याख्या – इस श्लोक में उस मान्यता का खंडन किया गया है जिसके अनुसार कर्ममात्र बन्धन का कारण है। भगवान् कहते हैं सभी कर्म बन्धन कारक नहीं होते, केवल वे ही कर्म बाँधते हैं जो यज्ञ के निमित्त नहीं किये जाते। अर्थात् कर्तव्य कर्म करना यज्ञ में आहुति देने के समान है। यदि कोई कर्म नहीं करेगा तो उत्पादन कैसे होगा, सृष्टि कैसे चलेगी। कर्महीन मनुष्य तो सृष्टिचक्र को रोकने का अर्थात् ब्रह्मा के कार्य में बाधा डालने का कार्य करेगा। ऐसे पापायु मनुष्य का जीना ही व्यर्थ है – ऐसा कहा गया है आगे श्लोक 16 में। श्लोक 17 व 18 में अपवाद के रूप में ऐसे लोगों का ज़िक्र किया

गया है जो आत्मा में ही रमण करने वाले, आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट होते हैं। ऐसे लोगों के लिये कोई कर्तव्य नहीं है। ऐसे मनुष्य न तो किसी कार्य को करने की चेष्टा करते हैं और न किसी कार्य से परहेज करते हैं। किन्तु ऐसे लोग लाखों में एक होते हैं जो स्वयं को शरीर न मानकर आत्मा समझते हैं – जैसे भागवत में जड़भरत की कहानी आती है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ 16॥

एवम्, प्रवर्तितम्, चक्रम्, न, अनुवर्तयति, इह, यः, अघायुः, इन्द्रियारामः, मोघम्, पार्थ, सः, जीवति।

हे पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

Arjuna, he who does not follow the wheel of creation thus set going in this world i.e., does not perform his duties, leads a sinful life, he lives in vain.

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ 17॥

यः, तु, आत्मरतिः, एव, स्यात्, आत्मतृप्तः, च, मानवः, आत्मनि, एव, च, सन्तुष्टः, तस्य, कार्यम्, न, विद्यते।

परन्तु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।

He, however, who takes delight in the Self alone and is gratified with Self, and is contented in the Self, has no duty.

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ 18॥

न, एव, तस्य, कृतेन, अर्थः, न, अकृतेन, इह, कश्चन,
न, च, अस्य, सर्वभूतेषु, कश्चित्, अर्थव्यपाश्रयः।

उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है। तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।

In this world that great soul has nothing to gain by action nor by abstaining from action; nor has he selfish dependence of any kind on any creature.

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ 19॥

तस्मात्, असक्तः, सततम्, कार्यम्, कर्म, समाचर,
असक्तः, हि, आचरन्, कर्म, परम्, आप्नोति, पूरुषः।

इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह। क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

Therefore, go on efficiently doing your duty at all times without attachment. Doing work without attachment man attains the Supreme.

व्याख्या – इस श्लोक में बताया गया है कि केवल कर्तव्य को निभा कर भी मनुष्य ईश्वर को प्राप्त कर सकता है, शर्त यह है कि कर्म आसक्ति रहित होकर किया जाय। पहले बताया जा चुका है कि कर्मफल में आसक्ति न हो। यहाँ बता रहे हैं कि कर्म में भी आसक्ति न हो। कुछ लोग किसी विशेष प्रकार के कर्म को करने में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उस कर्म को करने का उद्देश्य भी भूल जाते हैं। केवल इसलिये उस कर्म को करते हैं कि उसके वे आदी हो चुके होते हैं और उन्हें बस वह कार्य करते हुए अच्छा लगता है। इसी को कर्म की आसक्ति बता कर सतर्क रहने को कह रहे हैं।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ 27॥

प्रकृतेः, क्रियमाणानि, गुणैः, कर्माणि, सर्वशः,
अहङ्कारविमूढात्मा, कर्ता, अहम्, इति, मन्यते।

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है।

In fact all actions are being performed by the modes of Prakrti (Primordial Nature). The fool, whose mind is deluded by egoism, thinks: "I am the doer."

व्याख्या – प्रायः देखा गया है कि हमारे द्वारा कोई श्रेष्ठ कार्य सम्पन्न हो जाय, या श्रेष्ठ न भी हो तो भी कोई अन्य व्यक्ति उस कार्य की प्रशंसा कर दे तो हमारे अन्दर अहंकार की भावना जागृत हो जाती है कि अमुक कार्य मैंने कर दिया, कोई अन्य तो इसे कर ही नहीं पाता अथवा मैं नहीं करता तो यह कार्य होता ही नहीं। यही अहंकार भाव मनुष्य के कल्याण में बाधक है। यहाँ भगवान् बता रहे हैं कि जब भी कोई कार्य किसी के द्वारा सम्पादित होता है तो उसके पीछे बहुत

सी शक्तियाँ काम करती हैं जैसे उसके पूर्व जन्मों के संस्कार, उसके माता-पिता व गुरुओं द्वारा दी गई शिक्षा, मित्रों व सम्बन्धियों का संग – ये सभी सम्मिलित रूप से किसी व्यक्ति के स्वभाव निर्माण के लिये उत्तरदायी होते हैं। इन सब के ऊपर भी होती है ईश्वर प्रदत्त प्रेरणा व कार्य क्षमता। अतः मनुष्य को चाहिये कि अच्छे कार्य का श्रेय स्वयं को न देकर ईश्वर का धन्यवाद करे जिसकी कृपा से वह कार्य सम्पन्न हो पाया।

रामचरितमानस में भी कहा गया है –

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँत तुम्हार भरोसा॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ 34॥

इन्द्रियस्य, इन्द्रियस्य, अर्थे, रागद्वेषौ, व्यवस्थितौ,
तयोः, न, वशम्, आगच्छेत्, तौ, हि, अस्य, परिपन्थिनौ।

इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।

Attraction and repulsion are rooted in all sense-objects. Man should never allow himself to be swayed by them, because they are the two principal enemies standing in the way of his redemption.

व्याख्या – इस श्लोक में भगवान् साधक को सावधान करते हैं राग और द्वेष रूपी शत्रुओं से। ये ऐसे शत्रु हैं जो बाहर कहीं दिखाई नहीं देते, वरन् हमारे अन्दर, हमारी प्रत्येक इन्द्रियों के विषय में छिपे हुए हैं और ऐसे हमला करते हैं कि हमें पता नहीं लगता और हम कर्तव्य

से विमुख हो बैठते हैं। राग का अर्थ है किसी व्यक्ति, वस्तु अथवा परिस्थिति से अनुचित लगाव जिसको प्राप्त करने के लिये मनुष्य उचित अनुचित का विचार कर ही नहीं पाता, अनायास ही कर डालता है। इसी प्रकार द्वेष में भी किसी व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति से बचने के लिये मनुष्य अनुचित कार्य कर जाता है।

सांसारिक मनुष्यों ने अपने बचाव के लिये एक उक्ति पकड़ रखी है कि 'everything is fair in love and war'.

इस का अर्थ यह है कि राग और द्वेष के भाव में बहकर मनुष्य से अनुचित कार्य हो ही जाता है। इससे बचने का उपाय यह है कि समय-समय पर मनुष्य स्वयं के आचरण का आकलन करता रहे और सोचे कि अमुक कार्य मैंने राग अथवा द्वेष के वश में होकर तो नहीं किया।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ 35॥

श्रेयान्, स्वधर्मः, विगुणः, परधर्मात्, स्वनुष्ठितात्,
स्वधर्मे, निधनम्, श्रेयः, परधर्मः, भयावहः।

अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।

One's own duty, though devoid of merit, is preferable to the duty of another well performed. Even death in the performance of one's own duty brings blessedness; another's duty is fraught with fear.

व्याख्या – यहाँ भगवान् अर्जुन की उस सोच पर प्रहार कर रहे हैं जिस पर चलकर अर्जुन कहता है कि युद्ध करना घोर कार्य है, इसको

करने से हत्यायें होती हैं, पाप का भागी होना पड़ता है, इत्यादि। साथ ही यह भी कहता है कि इससे अच्छा तो भिक्षा के अन्न पर निर्वाह करना है। भगवान् कहते हैं कि तेरा धर्म है युद्ध करना क्योंकि तू क्षत्रिय है और युद्ध करना क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है।

यहाँ धर्म का अर्थ Religion यानी हिन्दू, मुस्लिम आदि नहीं है वरन् उस कार्य से है जो हम आरम्भ से करते आ रहे हैं। जिसको करना हमारा स्वभाव बन चुका है (अनैतिक व दुष्कर्मों को छोड़कर)। कई बार हमें लगता है कि जो कार्य हम कर रहे हैं वह अच्छा नहीं है, गुणरहित है, इसमें शारीरिक श्रम अधिक है, तो क्यों न हम दूसरे व्यक्ति का कार्य अपना लें जो दूर से आकर्षक लग रहा है। भगवान् कहते हैं यह सम्भव ही नहीं है। जिस व्यक्ति को बचपन से बड़े होने तक खेत में हल चलाने का अभ्यास है वह दफ्तर में बैठ कर काम नहीं कर पायेगा, न ही जूता गाँठने का कार्य कर पाएगा। ऐसे तो सृष्टि भी नहीं चलेगी। यदि सभी व्यक्ति एक ही कार्य करने लगेंगे तो अनाज कौन पैदा करेगा, सड़क कौन बनाएगा, मोटर कार हवाई जहाज़ कैसे बनेंगे, जिन मकानों में हम सुविधापूर्वक रहते हैं वे कौन बनाएगा, कपड़े कौन बनाएगा, कौन सिलेगा। इसलिये जिसका जो काम है वही करना आवश्यक है।

अर्जुन उवाच –

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरित पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ 36॥

अथ, केन, प्रयुक्तः, अयम्, पापम्, चरति, पूरुषः,
अनिच्छन्, अपि, वार्ष्णेय, बलात्, इव, नियोजितः।

अर्जुन ने कहा – हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?।

Arjuna said : Now impelled by what, Krsna, does this man commit sin even involuntarily, as though driven by force?

व्याख्या – अर्जुन का प्रश्न स्वाभाविक है। यदि मनुष्य अपने-अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करते हैं तो पाप क्योंकर होते हैं। पाप कर्म करना किसी के भी स्वभाव में नहीं है तो फिर किसके द्वारा प्रेरित होकर मनुष्य न चाहते हुये भी बलात् पाप कर्म में लगता है?

श्रीभगवानुवाच –

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ 37॥

कामः, एषः, क्रोधः, एषः, रजोगुणसमुद्भवः,
महाशनः, महापाप्मा, विद्धि, एनम्, इह, वैरिणम्।

श्रीभगवान् बोले – रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।

Śrī Bhagvān said : It is desire begotten of the element of Rajas, which appears as wrath; nay, it is insatiable and grossly wicked. Know this to be the enemy in this case.

व्याख्या – श्रीभगवान् कहते हैं सब पापों का मूल काम (अर्थात् वासना) है जो रजोगुण से उत्पन्न होता है। इन्द्रिय तृप्ति की इच्छा अधिक प्रबल होती है यद्यपि वह क्षणिक सुख देकर लुप्त हो जाती है। बड़े-बड़े योगी स्त्री के सुन्दर रूप पर मोहित हो जाते हैं। भागवत में समुद्र मन्थन के प्रसंग में भगवान् मोहिनी रूप धारण करके सभी देवताओं व दानवों को मोहित कर देते हैं।

गोस्वामी तुलसी दास ने रामचरितमानस के अरण्यकाण्ड में लिखा है –

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥

तथा

अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।

एवं –

दीप सिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ 42॥

इन्द्रियाणि, पराणि, आहुः, इन्द्रियेभ्यः, परम्, मनः, मनसः, तु, परा, बुद्धिः, यः, बुद्धेः, परतः, तु, सः।

इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है।

The senses are said to be greater than the body; but greater than the senses is the mind. Greater than the mind is the intellect; and what is greater than the intellect is He, the Self.

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ 43॥

एवम्, बुद्धेः, परम्, बुद्ध्वा, संस्तभ्य, आत्मानम्, आत्मना, जहि, शत्रुम्, महाबाहो, कामरूपम्, दुरासदम्।

इस प्रकार बुद्धिसे पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल।

Thus, Arjuna, knowing the Self which is higher than the intellect and subduing the mind by reason, kill this enemy in the form of desire that is hard to overcome.

श्लोक 42 व 43 की व्याख्या —

उपरोक्त दो श्लोकों में भगवान् ने प्रत्येक मनुष्य को उपलब्ध उस शक्ति का बोध कराया है जिससे साधारण मानव अनभिज्ञ रहता है। यहाँ बताया गया है कि इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ) अत्यन्त बलवान् होती हैं जो बलात् मानव को पथभ्रष्ट करने में सक्षम होती हैं। आँख, कान, नाक, जिह्वा व त्वचा – इनमें से किसी का भी अपने विषय के साथ संयोग होते ही ये नियन्त्रण से बाहर हो जाती हैं और भोग से होने वाली हानि को भुला बैठती हैं। उदाहरण के लिये शुगर के मरीज को मीठी व तली हुई वस्तुएँ खाना वर्जित हैं। लेकिन किसी दावत में खाद्य पदार्थों की भरमार से उसकी जिह्वा लालायित हो जाती है और उनका भोग करने पर विवश कर देती है। यहाँ भगवान् बता रहे हैं कि ऐसा तभी होता है जब मन इस इन्द्रिय का साथ देता है, क्योंकि मन अधिक बलवान् है। और मन तब साथ देता है जब विवेक मन को ढीला छोड़ देता है, अर्थात् बुद्धि या विवेक मन से श्रेष्ठ, बलवान् है। बुद्धि किसकी है? जीवात्मा की। अर्थात् जो जीवात्मा सजग रहता है वह मन, बुद्धि आदि पर नियन्त्रण रखता है, उस में सामर्थ्य है। इसी सामर्थ्य को पहचान कर कामरूपी दुर्जय शत्रु को मार डालने की भगवान् आज्ञा दे रहे हैं।

इस दुर्लभ योग के परिचय के साथ ही यह कर्मयोग नाम का अध्याय सम्पन्न होता है।

❖ ❖ ❖

अध्याय 4

इस अध्याय को **'ज्ञानकर्म-संन्यास योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 42 श्लोक हैं जिसमें से 12 श्लोकों का चयन किया गया है। इसमें भगवान् ने समझाया है कि जो कर्म योग अध्याय 3 में बताया गया है वह बुहत पुराना है जिसे स्वयं उन्होंने सूर्य के प्रति कहा था। अर्जुन की जिज्ञासा पर उनको खुलासा करना पड़ा कि वह भगवान् का अवतार हैं और ऐसे ही अवतार वह आवश्यकतानुसार समय-समय पर लेते रहते हैं।

इसके पश्चात् कर्म, अकर्म और विकर्म का अर्थ समझाया है, कर्म करते हुए कर्म-बन्धन से छूटने का उपाय बताया है, यज्ञ के प्रकार बताये हैं, ज्ञान का महत्त्व समझाया है और ज्ञान प्राप्त करने का उपाय भी बताया है।

श्रीभगवानुवाच —

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ 6॥

अजः, अपि, सन्, अव्ययात्मा, भूतानाम्, ईश्वरः, अपि, सन्, प्रकृतिम्, स्वाम्, अधिष्ठाय, सम्भवामि, आत्ममायया।

श्रीभगवान् बोले — मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।

Śrī Bhagvān said : Though birthless and immortal and the Lord of all beings, I manifest Myself through My own

Yogamāyā (divine potency), keeping My nature (Prakrti) under control.

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ 7॥

यदा, यदा, हि, धर्मस्य, ग्लानिः, भवति, भारत,
अभ्युत्थानम्, अधर्मस्य, तदा, आत्मानम्, सृजामि, अहम्।

हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ।

Arjuna, whenever righteousness is on the decline, unrighteousness is in the ascendant, then I body Myself forth.

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ 8॥

परित्राणाय, साधूनाम्, विनाशाय, च, दुष्कृताम्,
धर्म-संस्थापन-अर्थाय, सम्भवामि, युगे, युगे।

साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।

For the protection of the virtuous, for the extirpation of evil-doers, and for establishing Dharma (righteousness) on a firm footing, I manifest Myself from age to age.

श्लोक 6, 7 व 8 की व्याख्या —

इन तीन श्लोकों में भगवान् रहस्योद्घाटन करते हैं कि अर्जुन मेरे व तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं जिन्हें साधारण जीव पुनर्जन्म होने पर भूल जाता है किन्तु मैं उन्हें जानता हूँ। यहाँ भगवान् अपने भगवान् होने का खुलासा करते हुए कहते हैं कि सृष्टि में जब कभी अधर्म बहुत बढ़ जाता है, धर्म का लोप होने लगता है तब तब मैं सज्जनों की रक्षा व दुर्जनों के विनाश के लिये अवतार धारण कर लेता हूँ। इस अवतार रूप में मेरे जन्म और कर्म दिव्य होते हैं जिन्हें सब लोग नहीं जान पाते किन्तु जो मनुष्य मेरे अवतार को तत्त्व से जान लेता है वह फिर जन्म नहीं लेता।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ 11॥

ये, यथा, माम्, प्रपद्यन्ते, तान्, तथा, एव, भजामि, अहम्, मम्, वर्त्म, अनुवर्तन्ते, मनुष्याः, पार्थ, सर्वशः।

हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।

Arjuna, howsoever men seek Me, even so do I respond to them; for all men follow My path in everyway.

व्याख्या – इस श्लोक के दो अर्थ हैं – एक, जो व्यक्ति जिस भाव से भगवान् को भजता है उसे उसी रूप में भगवान् स्वीकार करते हैं। जो भगवान् को माँ समझता है उसे भगवान् पुत्र बना लेते हैं, जो पुत्र समझता है उसे माँ या बाप बना लेते हैं, जो स्वयं को सेवक समझता है उसके स्वामी बनकर उसका योगक्षेम वहन करते हैं, जो गोपियाँ

प्रेमिका बनीं उनके वे प्रेमी बन गए। जो रिश्ता आप बना लें, वही उन्हें स्वीकार्य है।

दूसरा अर्थ है सभी लोग मेरी ओर ही चले आ रहे हैं चाहे सगुणोपासक हों या अव्यक्त रूप के उपासक, एकत्व से भजने वाले हों या पृथकत्व से। ये सभी रास्ते भगवान् के चलाये हुए है और उसी की ओर जा रहे हैं – कर्मयोग का मार्ग हो या ज्ञानमार्ग हो अथवा भक्ति मार्ग।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ 17॥

कमर्णः, हि, अपि, बोद्धव्यम्, बोद्धव्यम्, च, विकर्मणः, अकर्मणः, च, बोद्धव्यम्, गहना, कर्मणः, गतिः।

कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये तथा विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्मकी गति गहन है।

The truth about action must be known and the truth of inaction also must be known; even so, the truth about prohibited action (Vikarma) must be known. For, mysterious are the ways of action.

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ 18॥

कर्मणि, अकर्म, यः, पश्येत्, अकर्मणि, च, कर्म, यः, सः, बुद्धिमान्, मनुष्येषु, सः, युक्तः, कृत्स्न–कर्म–कृत्।

जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है।

He who sees inaction in action, and action in inaction, is wise among men; he is a Yogī, who has performed all actions.

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ 19॥

यस्य, सर्वे, समारम्भाः, काम–सङ्कल्प–वर्जिताः,
ज्ञान–अग्नि–दग्धः–कर्माणम्, तम्, आहुः, पण्डितम्, बुधाः।

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।

Even the wise call him a sage, whose undertakings are all free from desire and Saṅkalpa (thoughts of the world) and whose actions are burnt up by the fire of wisdom.

श्लोक 17, 18 व 19 की व्याख्या —

इन श्लोकों में भगवान् ने समझाया है कि कर्म के तीन स्वरूप होते हैं – कर्म, अकर्म तथा विकर्म। इनमें से विकर्म वे कर्म होते हैं जिनका करना शास्त्रों में निषिद्ध बताया गया है अर्थात् शास्त्र विरुद्ध सभी ऐसे कर्म जो अनैतिक हैं जैसे हिंसा, झूठ, व्यभिचार आदि। ये कर्म तो करने ही नहीं चाहिये। जो करने योग्य कर्म हैं वे भी सभी फलदायक होते हैं किन्तु उनका फल कब मिलेगा, कितना मिलेगा, किस रूप में मिलेगा यह कोई नहीं जानता। इसीलिये कहा है कर्मों की गति गहन है।

यहाँ एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात भी समझाई गई है। जो कर्म कर्तृत्व के अभिमान से रहित, स्वार्थ रहित, अहंकार रहित होकर केवल कर्तव्य पालन के लिये, परहित के लिये किये जाते हैं, जहाँ आशा व फल की आकांक्षा का नितान्त अभाव है – ऐसे कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् उनका शुभ या अशुभ कोई फल नहीं रहता। कर्मों का फल भोगने के लिये ही तो जीव का पुनर्जन्म होता है। अतः जब पूर्व जन्म के संस्कार भोगने पर समाप्त हो जाते हैं और नये कर्म फलदायक नहीं होते तो जन्म-मरण के बन्धन से ही छुटकारा हो जाता है।

दूसरे, अकर्म में कर्म देखने का अर्थ यह है कि जो तथाकथित ज्ञानी संन्यासी हैं वे करणीय कार्य को भी छोड़कर बैठ जाते हैं और कहते हैं कि हम कुछ नहीं करते, इसलिये मुक्त हो जाएगें, वे वास्तव में मुक्त नहीं हो सकते क्योंकि इन्द्रियों द्वारा कर्म न करने पर भी मन व ज्ञानेन्द्रियाँ तो कार्य करती ही हैं और वे भी फलदायक होते हैं अर्थात् वे जिसको अकर्म कहते हैं वे भी कर्म हैं।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ 22॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टः, द्वन्द्वातीतः, विमत्सरः,
समः, सिद्धौ, असिद्धौ, च, कृत्वा, अपि, न, निबध्यते।

जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थमें सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है – ऐसा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता।

The Karmayogī, who is contented with whatever is got unsought, is free from jealousy and has transcended all

pairs of opposites like joy and grief, and is balanced in success and failure, is not bound by his action.

व्याख्या – जो व्यक्ति सिद्धि व असिद्धि में सम रहता है अर्थात् फल की प्राप्ति होने या न होने से उसे खुशी या दुःख नहीं होता, मत्सर रहित है अर्थात् किसी अन्य की उन्नति से जिसे जलन नहीं होती, जो कुछ भी प्रभु की मर्जी से प्राप्त हो जाता है उसी में सन्तुष्ट रहता है, केवल अपने कर्तव्य से मतलब रखता है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी बन्धन से मुक्त रहता है। जो कर्म बन्धनकारक नहीं होते वे गीता की भाषा में अकर्म कहलाते हैं।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ 33॥

श्रेयान्, द्रव्यमयात्, यज्ञात्, ज्ञानयज्ञः, परन्तप,
सर्वम्, कर्म, अखिलम्, पार्थ, ज्ञाने, परिसमाप्यते।

हे परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है, तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं।

Arjuna, sacrifice through Knowledge, is superior to sacrifice performed with material things. For all actions without exception culminate in knowledge, O son of Kuntī.

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ 34॥

तत्, विद्धि, प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया,
उपदेक्ष्यन्ति, ते, ज्ञानम्, ज्ञानिनः, तत्त्वदर्शिनः।

उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।

Understand the true nature of that Knowledge by approaching seers of Truth. If you prostrate at their feet, render them service, and question them with an open and guileless heart, those wise seers of Truth will instruct you in that Knowledge.

श्लोक 33 व 34 की व्याख्या —

पिछले कुछ श्लोकों में यज्ञ के प्रकार बताकर यज्ञ क्यों आवश्यक है यह बताया गया है। श्लोक 33 में बताया गया है कि सभी यज्ञों से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है। यज्ञों का उद्देश्य है कर्मबन्धन से छुटकारा या मोक्ष। यहाँ बताया गया है कि मनुष्य को जब ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तो वह जो भी कर्म करता है वे सभी यज्ञ की श्रेणी में आ जाते हैं। श्लोक 34 में बताया गया है कि ज्ञान की प्राप्ति स्वतः नहीं हो जाती, उसके लिये यत्न करना होता है, तत्त्वज्ञानियों के पास जाकर उनको यथायोग्य प्रणाम, नमन तथा प्रार्थना करनी होती है, तभी वे ज्ञानोपदेश करते हैं। साथ ही यह भी आवश्यक है कि ऐसा गुरु स्वयं तत्त्वदर्शी हो क्योंकि एक अन्धे का मार्गदर्शी स्वयं भी अन्धा हो तो दोनों ही गड्ढे में गिर जाते हैं।

उपरोक्त 2 श्लोकों में बहुत महत्त्वपूर्ण बात समझाई गई है। मनुष्य जाति के लिये ज्ञान बहुत आवश्यक है क्योंकि ज्ञान ही मानव को पशुता से ऊपर उठाता है। ज्ञान प्रकाशक है, मार्गदर्शक है, अज्ञान अन्धकार है। इसीलिये प्रार्थना की जाती है – **''तमसो मा ज्योतिर्गमय''** अर्थात् हे ईश्वर मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो। ज्ञानी गुरु की

सहायता से ही यह कार्य हो सकता है। गुरु के बिना ज्ञान अथवा ईश्वर की प्राप्ति असम्भव है। ध्रुव तथा प्रहलाद जैसे भक्तों को भी नारद के रूप में गुरु ने ही परम पद की प्राप्ति कराई थी। विभीषण को हनुमान जी के रूप में गुरु मिला था।

आज मानव अज्ञान के अन्धकार में डूबकर ही नैतिक मूल्यों को भूलता जा रहा है और भौतिक उपलब्धियों को प्राप्त करके भी अशान्त रहता है। यहाँ ज्ञान का तात्पर्य आध्यात्मिक ज्ञान से है।

श्लोक 36 में कहा गया है कि अत्यधिक पाप करने वाला भी ज्ञानरूप नौका द्वारा सम्पूर्ण पाप-समुद्र से तर सकता है। इसके लिये ऋषि वाल्मीकि का उदाहरण दिया जाता है जो देवर्षि नारद के ज्ञान के प्रभाव से डाकू से महान् सन्त व आदिकवि, संस्कृत काव्य में सर्वप्रथम रामायण के रचयिता बन गये।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ 39॥

श्रद्धावान्, लभते, ज्ञानम्, तत्परः, संयत-इन्द्रियः,
ज्ञानम्, लब्ध्वा, पराम्, शान्तिम्, अचिरेण, अधिगच्छति।

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके - तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

He who has mastered his senses, is exclusively devoted to his practice and is full of faith, attains Knowledge; having had the revelation of Truth, he immediately attains supreme peace in the form of God-realization.

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ 40॥

अज्ञः, च, अश्रद्दधानः, च, संशयात्मा, विनश्यति, न, अयम्, लोकः, अस्ति, न, परः, न, सुखम्, संशयात्मनः।

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।

He who lacks discrimination, is devoid of faith, and is at the same time possessed by doubt, is lost to the spiritual path. For the doubting soul there is neither this world, nor the world beyond, nor even happiness.

श्लोक 39 व 40 की व्याख्या —

चतुर्थ अध्याय के ये दोनों श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। श्लोक 39 में बताया गया है कि ज्ञान प्राप्त करने के लिये पात्रता होनी आवश्यक है और पात्र बनने के लिये इन्द्रियों पर विजय पाना, साधना में रत रहना और श्रद्धावान् होना अनिवार्य है। गुरु के वचनों में यदि श्रद्धा नहीं है, तर्क वितर्क अधिक करता है तो ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। श्लोक 40 में ज़ोर देकर कहा गया है कि श्रद्धारहित और संशययुक्त मनुष्य कभी आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता, न ही वह सुखी हो सकता है।

सब दुःखों को मूल कारण अज्ञान है जो गुरु कृपा से ही दूर हो सकता है। गुरु के पास जाने के लिये विनम्र होना अति आवश्यक है। भगवान् ने तो प्रणिपात अर्थात् दण्डवत् करने को कहा है। दण्डवत् का अर्थ है down to earth – अपने को ज्ञान से शून्य समझना। स्वयं को ज्ञानी समझने वाला व्यक्ति गुरु के प्रति श्रद्धा नहीं रख सकता।

श्लोक 41 में समस्त कर्मों को परमात्मा में अर्पण करने को कहा है।

इस प्रकार इस अध्याय में ज्ञान, कर्म व कर्मों के संन्यास अर्थात् भगवान् को कर्मों का अर्पण करने सम्बन्धी विषय को विस्तार से समझाया गया है।

❖ ❖ ❖

अध्याय 5

इस अध्याय को **'कर्म संन्यास योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 29 श्लोक हैं जिसमें से 6 श्लोकों का चयन किया गया है। इस अध्याय में संन्यासी की परिभाषा बताई गई है। कर्म योग को संन्यास योग में परिणत करने की विधि, कर्मों का मन से त्याग और कर्म फल का त्याग करके भगवत् प्राप्ति, समभाव में स्थित होने की विधि तथा उसका महत्त्व, ध्यान की विधि और काम-क्रोध आदि विकारों से बचने की विधि – इन सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

श्रीभगवानुवाच —

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ 3॥

ज्ञेयः, सः, नित्यसन्न्यासी, यः, न, द्वेष्टि, न, काङ्क्षति, निर्द्वन्द्वः, हि, महाबाहो, सुखम्, बन्धात्, प्रमुच्यते।

श्रीभगवान् बोले — हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

Śrī Bhagvān said : The Karmayogī who neither hates nor desires should ever be considered as an ever renunciant. For, Arjuna, he who is free from the pairs of opposites is easily liberated from bondage.

व्याख्या – संन्यासी का साधारण भाषा में अर्थ लगाया जाता है वह व्यक्ति जिसने घर-बार त्याग दिया है, जंगल में, पहाड़ में, गुफा में

या नदी किनारे जाकर भगवा कपड़े पहन कर पूरे दिन तपस्या करता है, भिक्षा के अन्न पर निर्वाह करके एकान्त में रहता है। इस श्लोक में भगवान् समझा रहे हैं कि जो व्यक्ति न किसी से द्वेष करता है, न किसी भी वस्तु की आकांक्षा करता है, बिना किसी फल की इच्छा के, केवल अपना कर्तव्य कर्म करता रहता है, वह संन्यासी ही समझने योग्य है। वह राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित होकर बड़ी आसानी से, बिना शरीर को तपाये संसार से एवं कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। वास्तव में कर्मयोग व संन्यास योग – दोनों एक ही फल देने वाले हैं। जो लोग इन को पृथक फल देने वाला समझते हैं वे मूर्ख हैं – ऐसा श्लोक 4 में बताया गया है।

श्लोक 6 में कहा गया है कि कर्मबन्धन से छूटने का उपाय है कर्मों में कर्तापन के भाव का त्याग और यह त्याग तभी सम्भव है जब कर्म किये जायँ। बिना कर्म किये त्याग सम्भव ही नहीं है।

श्लोक 7 में समझाया गया है कि कौन व्यक्ति कर्मों में लिप्त न होने की सामर्थ्य रखता है। जिसका मन अपने वश में है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तः करण वाला है और अपने भीतर ही परमात्मा के दर्शन करता है, अपनी आत्मा को परमात्मा समझता है – ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ 11॥

कायेन, मनसा, बुद्ध्या, केवलैः, इन्द्रियैः, अपि,
योगिनः, कर्म, कुर्वन्ति, सङ्गम्, त्यक्त्वा, आत्मशुद्धये।

कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।

The Karmayogīs perform action only with their senses, mind, intellect and body as well, without the feeling of mine in respect of them and shaking off attachment, simply for the sake of self-purification.

व्याख्या – जनसाधारण के मन में एक स्वाभाविक सा प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब भगवान् कर्मफल की इच्छा को ही त्यागने के लिये कहते हैं तो मनुष्य कर्म करने को प्रेरित ही क्योंकर होगा? इस श्लोक में इसी प्रश्न का उत्तर दिया गया है – अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म कर। आत्मशुद्धि के लिये मानव बहुत से कर्मकाण्ड करता है – हवन करता है, यज्ञ करता है, तीर्थयात्रा करता है, दान दक्षिणा आदि करता है, भण्डारे लगाता है, साधुओं को भोजन करा देता है, आदि आदि। भगवान् का कथन है कि आसक्ति छोड़कर, कर्तापन का भाव छोड़कर, फल की आशा छोड़कर अपना कर्तव्य कर्म करके ही आत्मशुद्धि हो सकती है, न कि कर्मकाण्ड से।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ 14॥

न, कर्तृत्वम्, न, कर्माणि, लोकस्य, सृजति, प्रभुः,
न, कर्मफलसंयोगम्, स्वभावः, तु, प्रवर्तते।

परमेश्वर मनुष्योंके न तो कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं; किन्तु स्वभाव ही बर्त रहा है।

God determines neither the doership nor the doings of men, nor even their contact with the fruit of actions; but it is Nature alone that does all this.

व्याख्या – यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें भगवान् स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य कर्म करने में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। भगवान् न तो कर्तापन की रचना करते हैं, न कर्मों की, न कर्मफल के संयोग की। कुछ लोगों की धारणा है कि कर्म भी भगवान् की मर्जी से होते हैं, कर्तापन का भाव भी भगवान् ही करवाते अथवा छुड़वाते हैं जबकि भगवान् कहते हैं कि ये सब गुण मनुष्य में अपने स्वभाव के अनुसार ही आते हैं, भगवान् का इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं है। कर्मों के अनुसार फल भी भगवान् के विधान के अनुसार स्वतः ही प्राप्त होते हैं।

अगले दो श्लोंको में भगवान् कहते हैं कि अज्ञान के कारण मनुष्य पापकर्मों में लिप्त होते हैं। पिछले अध्याय में इसीलिये ज्ञान का महत्त्व बताया गया था जिससे मनुष्य कर्म करते हुए पाप से बचे रहें। वह अज्ञान परमात्मा के सम्बन्ध में तत्त्वज्ञान होने पर अनायास ही नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार बिना प्रयास के ही नष्ट हो जाता है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ 18॥

विद्या–विनय–सम्पन्ने, ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि,
शुनि, च, एव, श्वपाके, च, पण्डिताः, समदर्शिनः।

वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।

The wise look with equanimity on all whether it be a Brāhmana endowed with learning and humility, a cow, an elephant, a dog and a pariah, too.

व्याख्या – भगवान् कहते हैं कि वास्तविक ज्ञानी तो सब में ही समभाव रखते हैं, सब में भगवान् का दर्शन करते हैं चाहे वह विद्वान

हो अथवा चाण्डाल हो या गाय, कुत्ता अथवा विशालकाय हाथी हो। वह समझता है कि सभी जीवों में चेतन अंश तो परमात्मा का ही है तथा शरीर का निर्माण पंचभूतों द्वारा ही होता है – पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व आकाश। केवल बाहरी आकार अलग अलग दिखाई देते हैं जैसे सोने से बने हुए आभूषण, जो अलग-अलग रूप होने पर भी वस्तुतः सोना ही है। स्वर्णकार के पास कोई भी आभूषण ले जाओ तो उसका मूल्यांकन स्वर्ण की मात्रा के अनुसार ही करता है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ 21॥

बाह्यस्पर्शेषु, असक्तात्मा, विन्दति, आत्मनि, यत्, सुखम्, सः, ब्रह्म-योग-युक्त-आत्मा, सुखम्, अक्षयम्, अश्नुते।

बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।

He whose mind remains unattached to sense-objects, derives through meditation, the Sāttvika joy which dwells in the mind; then that Yogī, having completely identified himself through meditation with Brahma, enjoys eternal Bliss.

व्याख्या – यहाँ भगवान् बता रहे हैं कि जब तक जीव सांसारिक विषयों में आसक्त रहता है, इन्द्रिय तृप्ति में सुख का अनुभव करता है तब तक वह ध्यान-जनित सुख का अनुभव नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जिसने एक बार परब्रह्म परमात्मा के ध्यानरूप योग का स्वाद चख लिया, उसके लिये इन्द्रियतृप्ति के सुख इतने तुच्छ हो जाते हैं कि उनको भोगने की इच्छा ही नहीं रह जाती, न इन्द्रियों द्वारा महसूस किये जाने वाले कष्टों से ही प्रभावित होता

है। अगले श्लोक में कहा गया है कि इन्द्रियों द्वारा भोगे जाने वाले सुख भी वास्तव में दुःख रूप ही हैं क्योंकि उनका अन्तिम परिणाम दुःख ही होता है।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ 23॥

शक्नोति, इह, एव, यः, सोढुम्, प्राक्, शरीर-विमोक्षणात्, कामक्रोधोद्भवम्, वेगम्, सः, युक्तः, सः, सुखी, नरः।

जो साधक इस मनुष्यशरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है।

He alone, who is able to withstand, in this very life before casting off this body, the urges of lust and anger, is a Yogī, and he alone is a happy man.

व्याख्या – इस श्लोक में भगवान् बता रहे हैं कि काम व क्रोध का वेग बड़ा प्रबल होता है। ये विकार आँधी की तरह आते हैं और थोड़ी देर के पश्चात् शान्त हो जाते हैं परन्तु इसी बीच में ये बहुत विनाशकारी हो जाते हैं यदि जीव सावधान न रहे। इस वेग को सफलतापूर्वक वही झेल पाता है जो भगवान् पर आश्रित है और इन विकारों के विनाशकारी प्रभाव को पहचानता है। वही योगी है, वही सुखी है। बड़े-बड़े योगी, ऋषि, मुनि भी काम या क्रोध से कभी न कभी प्रभावित होते देखे गये हैं। नारद, दुर्वासा आदि इसके उदाहरण हैं। काम पर विजय पाने वाले उदाहरण भी पुराणों में उपलब्ध हैं जैसे अर्जुन ने उर्वशी जैसी अप्सरा के प्रस्ताव को ठुकरा दिया था जिसके कारण उसे एक वर्ष के लिये नपुंसकता का शाप भी झेलना पड़ा।

❖ ❖ ❖

अध्याय 6

इस अध्याय को **'आत्मसंयम योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 47 श्लोक हैं जिसमें से 19 श्लोकों का चयन किया गया है। इस अध्याय के मुख्य विषय ये हैं – निष्काम कर्म योग का प्रतिपादन, जीवात्मा द्वारा मन, इन्द्रिय और शरीर पर नियन्त्रण, समता का भाव, ध्यान की आवश्यकता व विधि, योगारूढ़ मनुष्य के लक्षण, मन को वश में करने का उपाय, असंयमी की गति।

श्रीभगवानुवाच —

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ 1 ॥

अनाश्रितः, कर्मफलम्, कार्यम्, कर्म, करोति, यः, सः, संन्यासी, च, योगी, च, न, निरग्निः, न, च, अक्रियः।

श्रीभगवान् बोले — जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है।

Śrī Bhagvān said : He who does his duty without expecting the fruit of actions is a Sannyāsī (Sankhyayogi) and a Yogi (Karmayogi) both. He is no Sannyāsī (renouncer) who has merely renounced the sacred fire; even so, he is no Yogī who has merely given up all activity.

व्याख्या – यह एक अद्भुत श्लोक है। इसमें दो विपरीत अर्थ वाले शब्दों का अर्थ समान बताया गया है – कर्मयोगी तथा संन्यासी। आम

बोलचाल की भाषा में संन्यासी उसको कहते हैं जो काषाय वस्त्र धारण करके घर–बार, कार्य व संसार को त्याग कर एकान्त वास करता है या कहीं आश्रम आदि में वास करता है। यहाँ भगवान् गृहस्थी को ही संन्यासी कह रहे हैं। जो सभी करनेयोग्य सांसारिक कर्म करता है फिर भी संन्यासी है यदि वह कर्मफल के उद्देश्य से रहित होकर कर्म करता है। वह स्वयं के लिये कर्म न करके लोकहितार्थ अथवा कर्तव्य–पालन हेतु कर्म करता है, संग्रह परिग्रह से दूर रहता है। ऐसे कर्म को निष्काम कर्म कहा गया है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ 5॥

उद्धरेत्, आत्मना, आत्मानम्, न, आत्मानम्, अवसादयेत्, आत्मा, एव, हि, आत्मनः, बन्धुः, आत्मा, एव, रिपुः, आत्मनः।

अपने द्वारा अपना संसार–समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु।

One should lift oneself by one's own efforts and should not degrade oneself; for one's own self is one's friend, and one's own self is one's own enemy.

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ 6॥

बन्धुः, आत्मा, आत्मनः, तस्य, येन, आत्मा, एव, आत्मना, जितः, अनात्मनः, तु, शत्रुत्वे, वर्तेत, आत्मा, एव, शत्रुवत्।

जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है।

One's own Self is the friend of the soul by whom the lower self (consisting of the mind, senses and body) has been conquered; even so, the very Self of him, who has not conquered his lower self, behaves antagonistically like an enemy.

श्लोक 5 व 6 की व्याख्या —

उपर्युक्त दो श्लोक बहुत व्यापक अर्थ वाले श्लोक हैं। इनमें self control का महत्त्व बताया गया है। यहाँ भगवान् कह रहे हैं कि दुनिया में कोई दूसरा व्यक्ति हमारा शत्रु अथवा मित्र नहीं है। हम अपने अच्छे या बुरे व्यवहार अथवा सोच के कारण दूसरे व्यक्ति या परिस्थिति को अपने सुख या दु:ख का कारण मान लेते हैं। जिस व्यक्ति का मन अपने वश में नहीं है वह बुद्धि-विवेक से काम न लेकर मनमाना आचरण करने लगता है, गलत कार्य कर बैठता है, जिसके फलस्वरूप उसे दु:ख की प्राप्ति होती है। मनुष्य प्राय: गलत कार्य करके अपने आप को क्षमा कर देता है जबकि वही कार्य कोई अन्य करता है तो उसे क्रोध आता है। जिसका मन स्वयं के वश में है वह गलत कार्य या वस्तु के प्रति आकर्षित नहीं होता और दु:ख से बचा रहता है। इसलिये कहा गया कि सुख या दु:ख की प्राप्ति में मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। उदाहरण के लिये जिह्वा को ही लें। यदि स्वादवश कोई अधिक मीठा या अधिक मसाले वाला या अधिक मात्रा में भोजन कर लिया तो सेहत खराब होनी ही है। उसी जिह्वा पर वश न होने के कारण आवेश में किसी को अप्रिय-कटु वाणी बोल दी तो

हानि होनी ही है। इन दोनों स्थितियों के लिये इन्द्रियों पर नियन्त्रण न होने के कारण मनुष्य स्वयं ही उत्तरदायी है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ 11॥

शुचौ, देशे, प्रतिष्ठाप्य, स्थिरम्, आसनम्, आत्मनः,
न, अति–उच्छ्रृतम्, न, अतिनीचम्, चैल–अजिन–कुश–उत्तरम्।

शुद्ध भूमिमें, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके –

Having firmly set his seat in a spot which is free from dirt and other impurities with the sacred Kuśa grass, a deerskin and a cloth spread thereon, one upon the other, (Kuśa below, deerskin in the middle and the cloth uppermost), neither very high nor very low;

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ 12॥

तत्र, एकाग्रम्, मनः, कृत्वा, यत–चित्त–इन्द्रिय–क्रियः,
उपविश्य, आसने, युञ्ज्यात्, योगम्, आत्मविशुद्धये।

उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे।

And, occupying that seat, concentrating the mind and controlling the functions of the mind and senses, he should practise Yoga for self-purification;

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ 13॥

समम्, काय-शिरः-ग्रीवम्, धारयन्, अचलम्, स्थिरः, सम्प्रेक्ष्य, नासिकाग्रम्, स्वम्, दिशः, च, अनवलोकयन्।

काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर, अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ –

Holding the trunk, head and neck straight and steady, remaining firm and fixing the gaze on the tip of his nose, without looking in other directions.

श्लोक 11, 12 व 13 की व्याख्या —

पहले के श्लोकों में मन को नियन्त्रित करने की जो बात कही गई, इन तीन श्लोकों में उसकी विधि बताई गई है। यहाँ आत्मा को परमात्मा में लगाने की विधि ध्यान लगाना बताई गई है। गीता में कर्म काण्ड को कोई स्थान नहीं दिया गया है। आत्मशुद्धि के लिये कर्मयोग, ध्यानयोग व ज्ञानयोग पर बल दिया गया है। यह अभ्यास प्रतिदिन प्रातः, सायं नियत समय व नियत स्थान पर करना चाहिये। दस मिनट से आरम्भ करके एक घंटे तक समय बढ़ायें। मन में जो विचार आयें उनको केवल देखते रहें। बाद में ये विचार स्वयं समाप्त हो जायेंगे और मन एकाग्र होने लगेगा।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ 16॥

न, अति, अश्नतः, तु, योगः, अस्ति, न, च, एकान्तम्, अनश्नतः, न, च, अति, स्वप्नशीलस्य, जाग्रतः, न, एव, च, अर्जुन।

हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खानेवालेका, न बिलकुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।

Arjuna, this Yoga is neither for him who overeats, nor for him who observes complete fast; it is neither for him who is given to too much sleep, nor even for him who is ceaselessly awake.

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ 17॥

युक्त–आहार–विहारस्य, युक्तचेष्टस्य, कर्मसु, युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगः, भवति, दुःखहा।

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार–विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।

Yoga, which rids one of woe, is accomplished only by him who is regulated in diet and recreation, regulated in performing actions, and regulated in sleep and wakefulness.

श्लोक 16 व 17 की व्याख्या —

इन दो श्लोकों में बताया गया है कि योगी होने के लिये शरीर अथवा आत्मा को बहुत कष्ट देने की आवश्यकता नहीं है, बिल्कुल साधारण जीवन की दिनचर्या से भी योग सिद्ध हो सकता है यदि चित्त वश

में हो। बहुत अधिक भोजन तथा लम्बे समय का व्रत, बहुत शयन करना या लम्बे समय तक सोना या अन्य किसी प्रकार से शरीर को तपाना जैसे गरमी के मौसम में अपने चारों ओर अग्नि जलाकर, सरदी में ठण्डे पानी में रहना आदि – ऐसे किसी भी कार्य से योग सिद्ध नहीं होता है। इसके विपरीत शरीर की आवश्यकता के अनुसार शयन व भोजन करने से दुःखों का नाश करनेवाला योग सिद्ध होता है। इसीलिये सन्त कबीर ने लिख दिया – **'साधो सहज समाधि भली'**।

यहाँ नियमित जीवन का महत्व समझाया गया है। कोई भी कार्य करें, उसका उद्देश्य निश्चित हो, नियमपूर्वक निश्चित समय पर किया जाये, सोने-जागने का समय निश्चित हो। भोजन का समय, पूजा अर्चना ध्यान, खेलकूद मनोरंजन आदि सभी कार्य नियमित रूप से तथा निश्चित समय पर किये जायें तो वह भी योग की साधना के आवश्यक अंग हैं।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ 22॥

यम्, लब्ध्वा, च, अपरम्, लाभम्, मन्यते, न, अधिकम्, ततः, यस्मिन्, स्थितः, न, दुःखेन, गुरुणा, अपि, विचाल्यते।

परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।

And having obtained which he does not reckon any other gain as greater than that, and established in which he is not shaken even by the heaviest of sorrows;

व्याख्या – दुनिया में अनेकों वस्तुएँ व परिस्थितियाँ हैं जिनको प्राप्त करके हम लाभ मानते हैं, प्रसन्न हो जाते हैं जैसे परीक्षा में अच्छा परिणाम, अच्छी नौकरी मिलना, अच्छा मकान, अच्छा जीवन साथी इत्यादि। परन्तु योगी समझता है कि ये सब लाभ सापेक्ष हैं तथा सदा रहने वाले नहीं हैं। योगी तब तक सन्तुष्ट नहीं होता जब तक उसे परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती। उसी के लिये सदैव प्रयत्नशील रहता है, उसके न मिलने पर दुःखी होता है जैसे रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास ने हुनमान जी से कहलवाया –

कह हनुमन्त बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

ईश्वर के ध्यान से प्राप्त होने वाले सुख से बढ़कर अन्य किसी सुख को नहीं मानता। उस स्थिति में पहुँचकर वह किसी भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता। यह वह स्थिति है जब मनुष्य का चित्त सूक्ष्म बुद्धि द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ 26॥

यतः, यतः, निश्चरति, मनः, चञ्चलम्, अस्थिरम्,
ततः, ततः, नियम्य, एतत्, आत्मनि, एव, वशम्, नयेत्।

यह स्थिर न रहनेवाला और चंचल मन जिस–जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस–उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार–बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे।

Drawing back the restless and fidgety mind from all those objects after which it runs, he should repeatedly fix it on God.

व्याख्या – यहाँ मन को चंचल बताया गया है क्यों कि यह इन्द्रिय सुख की प्राप्ति में उनके साथ हो लेता है। कर्णेन्द्रिय को अच्छा सुनना प्रिय लगता है, हमेशा अपनी प्रशंसा या कर्णप्रिय संगीत सुनने की चेष्टा में लगी रहती है। जब मन उसका साथ देता है तो अन्य इन्द्रियाँ उसी विषय की प्राप्ति में चेष्टा करने लगती हैं। यही बात चक्षु, घ्राण, जिह्वा, त्वचा आदि पर लागू होती है। यहाँ भगवान् कह रहे हैं कि विवेकशील व्यक्ति इंद्रियों की ऐसी चेष्टाओं को पहचानकर सतर्क होकर मन को उनका साथ देने से रोककर बार-बार परमात्मा में लगाए। बार-बार ऐसा करने से वह इसका अभ्यस्त हो जायेगा और मन का भागना भी कम हो जायेगा।

अर्जुन उवाच –

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ 34॥

चञ्चलम्, हि, मनः, कृष्ण, प्रमाथि, बलवत्, दृढम्,
तस्य, अहम्, निग्रहम्, मन्ये, वायोः, इव, सुदुष्करम्।

अर्जुन ने कहा — क्योंकि हे श्रीकृष्ण! यह मन बड़ा चंचल, प्रमथन स्वभाववाला, बड़ा दृढ़ और बलवान है। इसलिये उसका वशमें करना मैं वायुको रोकनेकी भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ।

Arjuna said : For, Kṛṣṇa, the mind is very unsteady, turbulent, tenacious and powerful; therefore, I consider it as difficult to control as the wind.

श्रीभगवानुवाच –

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ 35॥

असंशयम्, महाबाहो, मनः, दुर्निग्रहम्, चलम्
अभ्यासेन, तु, कौन्तेय, वैराग्येण, च, गृह्यते।

श्रीभगवान् बोले – हे महाबाहो! निःसन्देह मन चंचल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।

Srī Bhagwān said : The mind is restless no doubt, and difficult to curb, Arjuna; but it can be brought under control by repeated practice (of meditation) and by the exercise of dispassion, O son of Kuntī.

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ 36॥

असंयत–आत्मना, योगः, दुष्प्रापः, इति, मे, मतिः,
वश्य–आत्मना, तु, यतता, शक्यः, अवाप्तुम्, उपायतः।

जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है – यह मेरा मत है।

Yoga is difficult of achievement by one whose mind is not subdued by him; however, who has the mind under control, and is ceaselessly striving, it can be easily attained through practice. Such is My conviction.

श्लोक 34, 35 व 36 की व्याख्या —

श्लोक 34 में अर्जुन का प्रश्न स्वाभाविक है जो हम सभी की ओर से किया गया प्रतीत होता है। मन बड़ा चंचल है, अतः इसको वश में करना ऐसा है जैसे वायु को वश में करना। श्लोक 35 में भगवान् पुष्टि करते हैं कि वास्तव में मन को वश में करना अत्यन्त कठिन है, फिर भी अभ्यास और वैराग्य से वश में करना सम्भव है। कितने ही असम्भव लगने वाले कार्य नियमित अभ्यास से सम्भव होते देखे गये हैं। किन्तु इसके लिये अभ्यास के साथ-साथ वैराग्य की भावना भी उतनी ही आवश्यक है अर्थात् संसार में सभी वस्तुओं में अनित्यता की प्रतीति होना, किसी भी वस्तु को अपनी न समझ कर सब कुछ भगवान् का समझना – यही वैराग्य की भावना है। साथ ही श्लोक 36 में कहा गया है कि योग की प्राप्ति में मन का वश में करना अत्यन्त आवश्यक है, बिना इसके योग प्राप्त हो ही नहीं सकता और वश में किये हुए मनवाला पुरुष यत्न से, साधन से सहज ही योग को प्राप्त कर सकता है।

अर्जुन उवाच –

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ 37॥

अयतिः, श्रद्धया, उपेतः, योगात्, चलितमानसः,
अप्राप्य, योगसंसिद्धिम्, काम्, गतिम्, कृष्ण, गच्छति।

अर्जुन ने कहा — हे श्रीकृष्ण! जो योगमें श्रद्धा रखनेवाला है; किन्तु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकालमें योगसे विचलित हो गया है, ऐसा साधक योगकी सिद्धिको अर्थात् भगवत्साक्षात्कारको न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है?

Arjuna said : Kṛṣṇa, what becomes of the aspirant who, though endowed with faith, has not been able to subdue his passions, and whose mind is, therefore, diverted from Yoga at the time of death, and who thus fails to reach perfection in Yoga (God-realization)?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ 38॥

कच्चित्, न, उभय–विभ्रष्टः, छिन्न–अभ्रम्, इव, नश्यति, अप्रतिष्ठः, महाबाहो, विमूढः, ब्रह्मणः, पथि।

हे महाबाहो! क्या वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न–भिन्न बादलकी भाँति दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता?

Kṛṣṇa, swerved from the path leading to God-realization and without anything to stand upon, is he not lost like the scattered cloud, deprived of both God-realization and heavenly enjoyment?

श्लोक 37 व 38 की व्याख्या —

पिछले श्लोक में भगवान् ने कहा था कि जिसका मन अपने वश में नहीं है ऐसा व्यक्ति योग को प्राप्त नहीं कर सकता और भगवान् ने मन को वश में करने का उपाय भी बताया था – अभ्यास और वैराग्य। फिर भी अर्जुन का प्रश्न रह जाता है कि अभ्यास करते हुए भी अन्तकाल में जिसका चित्त किसी कारण से विचलित हो जाता है तो उस साधक की क्या दशा होती है। क्या उसकी जीवन भर की साधना व्यर्थ हो जाती है। क्या वह स्वार्थ और परमार्थ दोनों को ही खो तो नहीं बैठता? इसका उत्तर भगवान् 40वें श्लोक में देते हैं।

श्रीभगवानुवाच –

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥ 40 ॥

पार्थ, न, एव, इह, न, अमुत्र, विनाशः, तस्य, विद्यते, न, हि, कल्याणकृत्, कश्चित्, दुर्गतिम्, तात, गच्छति।

श्रीभगवान् बोले – हे पार्थ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही। क्योंकि हे प्यारे! आत्मोद्धारके लिये अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।

Śrī Bhagvān said : Arjuna, there is no fall for him either here or hereafter. For, O My beloved, none who strives for self-redemption (i.e., God-realization) ever meets with evil destiny.

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ 41 ॥

प्राप्य, पुण्यकृताम्, लोकान्, उषित्वा, शाश्वतीः, समाः, शुचीनाम्, श्रीमताम्, गेहे, योगभ्रष्टः, अभिजायते।

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके लोकोंको अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकोंको प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षोंतक निवास करके फिर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है।

Such a person who has strayed from Yoga, obtains the higher worlds, (heaven etc.) to which men of meritorious deeds alone are entitled, and having resided there for innumerable years, takes birth of pious and prosperous parents.

श्लोक 37 से 41 की व्याख्या —

श्लोक 37 व 38 में अर्जुन प्रश्न करता है – भगवन् ऐसे साधक की क्या गति होती है जो योग में श्रद्धा रखता है, प्रयत्न भी करता है परन्तु संयम न होने के कारण अथवा किसी अन्य कारण से अन्त काल में योग से विचलित हो जाता है। क्या वह आश्रय रहित छिन्न-भिन्न बादल की भाँति नष्ट तो नहीं हो जाता जिसके कारण वह सांसारिक भोगों से भी वंचित रह जाता है और ईश्वर-प्राप्ति से भी। इस प्रश्न का उत्तर भगवान् आगामी श्लोंकों में विस्तार से देते हैं।

भगवान् कहते हैं अर्जुन! भगवत्प्राप्ति की राह में किया गया कोई भी प्रयत्न कभी व्यर्थ नहीं जाता। योगभ्रष्ट पुरुष ईश्वर को प्राप्त न भी कर पाये तो भी, स्वर्गादि उत्तम लोकों में अवश्य जाता है। वहाँ बहुत वर्षों तक निवास करके फिर पृथ्वी लोक में शुद्ध आचरण वाले श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है। ऐसे धर्मात्मा माता-पिता व अनुकूल वातावरण को प्राप्त करके अपने पुराने संस्कारों के बल पर वह पुनः परमात्मा की प्राप्ति के लिये पहले से भी बढ़कर प्रयत्न करता है। पहले किया हुआ अभ्यास फिर से जागृत होकर उसके पुनरुत्थान में सहायक होता है और वह ईश्वर प्राप्ति में सफल हो जाता है। अतः साधक जितना भी रास्ता तय कर पाये, उसे निराश या शंकित नहीं होना चाहिये।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ 46॥

तपस्विभ्यः, अधिकः, योगी, ज्ञानिभ्यः, अपि, मत, अधिकः, कर्मिभ्यः, च, अधिकः, योगी, तस्मात्, योगी, भव, अर्जुन।

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है; इससे हे अर्जुन! तू योगी हो।

The Yogi is superior to the ascetics; he is regarded superior even to those versed in sacred lore. The Yogī is also superior to those who perform action with some interested motive. Therefore, Arjuna, do become a Yogī.

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ 47॥

योगिनाम्, अपि, सर्वेषाम्, मद्गतेन, अन्तःआत्मना,
श्रद्धावान्, भजते, यः, माम्, सः, मे, युक्ततमः, मतः।

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

Of all Yogīs, again, he who devoutly worships Me with his mind focussed on Me is considered by Me to be the best Yogī.

श्लोक 46 व 47 की व्याख्या —

इन दो श्लोकों में भगवान् ने योगी को सर्वश्रेष्ठ बतलाते हुए कहा है कि उनके मतानुसार योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, जो सब शास्त्रों का ज्ञान अर्जित कर लेते हैं उनसे भी श्रेष्ठ है और सकाम कर्म करने वालों से भी श्रेष्ठ है। इसलिये अर्जुन को निर्देश दे रहे हैं कि तू योगी हो जा। इसका अर्थ हो सकता है कि निष्काम कर्म करने वाला तो योगी है ही, इसके अतिरिक्त इस अध्याय में वर्णित लक्षणों वाले भी योगी

हैं। मुख्यतः योग की परिभाषा समता ही है जैसा कि अध्याय 2 के श्लोक 48 में कहा गया है – समत्वं योग उच्यते।

इस अध्याय के श्लोक 32 में भी कहा गया है कि जो योगी सम्पूर्ण प्राणियों के दु:खों को अपने दु:ख की भाँति समझ कर दु:खी होता है और उनके सुख को अपने सुख की भाँति समझ कर सुखी होता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है। इसी प्रकार इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में कहा गया है कि वह योगी भी परम श्रेष्ठ है जो हर समय पूर्ण श्रद्धा से ओत-प्रोत होकर परमात्मा में मन लगाये रहता है।

निष्कर्ष यह कि योगी होना ही मानव जीवन का ध्येय होना चाहिये। जो हर समय भगवान् में मन लगाये रहता है वही भक्त है। यहाँ भगवान् भक्त को ही परम श्रेष्ठ योगी कहते हैं।

❖ ❖ ❖

अध्याय 7

इस अध्याय को **'ज्ञानविज्ञान योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 30 श्लोक हैं जिसमें से 15 श्लोकों का चयन किया गया है। इस अध्याय के मुख्य विषय ये हैं – प्रकृति के स्वरूप का वर्णन, भगवान् का स्वरूप, व्यापकता तथा विभूतियों का वर्णन, भगवान् को न जानने का कारण, भगवान् तथा अन्य देवताओं में अन्तर।

श्रीभगवानुवाच —

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ 3॥

मनुष्याणाम्, सहस्रेषु, कश्चित्, यतति, सिद्धये,
यतताम्, अपि, सिद्धानाम्, कश्चित्, माम्, वेत्ति, तत्त्वतः।

श्रीभगवान् बोले — हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।

Śrī Bhagvān said : Hardly one among thousands of men strives to realize Me; of those striving Yogīs, again, some rare one, devoting himself exclusively to Me, knows Me in reality.

व्याख्या – भगवान् ने सृष्टि की रचना इस प्रकार की है कि मनुष्य स्वयं ही अपने बुने हुए जाल में फँसा रहता है जिसके कारण ईश्वर-प्राप्ति रूप अपने मुख्य उद्देश्य को भूला रहता है। हज़ारों मनुष्यों में से किसी एक को अपना उद्देश्य याद आता है और वही एक ईश्वर की प्राप्ति

के लिये यत्न करता है और उन यत्न करने वालों में भी केवल वही सफल हो पाते हैं जो दृढ़ निश्चय वाले होते हैं और इस मार्ग को अनेक कठिनाइयों, रुकावटों के बावजूद छोड़ते नहीं हैं तथा जिन पर भगवान् विशेष कृपा करते हैं। ऐसे मनुष्य ही भगवान् को तत्त्व से जान पाते हैं और तत्त्व से जानने के पश्चात् वह स्वतः ही भगवान् के भक्त हो जाते हैं, हर समय भगवान् का ही चिन्तन करते रहते हैं।

पहले के दो श्लोकों में भगवान् अर्जुन को स्वयं का व सृष्टि का सम्पूर्ण ज्ञान देने की बात कह रहे हैं क्योंकि वह इस ज्ञान का पात्र है, भगवान् का प्रेमी है, अनन्यभाव से भगवान् के परायण है। ऐसा विज्ञान सहित ज्ञान देने में केवल भगवान् ही समर्थ हैं, इसीलिये कहा जाता है – **कृष्णं वन्दे जगद्गुरुं।**

ज्ञान पूर्ण तभी होता है जब उसे विज्ञान सहित समझा जाये। ज्ञान का अर्थ है तत्त्वज्ञान, भगवान् सम्बन्धी ज्ञान, आध्यात्मिक ज्ञान तथा विज्ञान का अर्थ सांसारिक ज्ञान, संसार कैसे बना व कैसे चल रहा है, इसकी Physics, Chemistry or Biology क्या है। संक्षिप्त में समझें तो किसी मशीन या हवाई जहाज़ के इंजिन की बनावट की जानकारी विज्ञान है, और यह जानकारी कि वह चलता कैसे है, उसे ऊर्जा कहाँ से प्राप्त होती है और उसे चलाने वाला भी कोई है, ज्ञान है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ 4॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ 5॥

भूमिः, आपः, अनलः, वायुः, खम्, मनः, बुद्धिः, एव, च, अहङ्कारः, इति, इयम्, मे, भिन्ना, प्रकृतिः, अष्टधा।

अपरा, इयम्, तु, अन्याम्, प्रकृतिम्, विद्धि, मे, पराम्, जीवभूताम्, महाबाहो, यया, इदम्, धार्यते, जगत्।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी – इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरीको, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान।

Earth, water, fire, air, ether, mind, reason and also ego – these constitute My nature divided into eight parts. This indeed is My lower (material) nature; the other than this by which the whole universe is sustained, know it to be My higher (or spiritual) nature in the form of Jīva (the life principle), O Arjuna.

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ 6॥

एतत्–योनीनि, भूतानि, सर्वाणि, इति, उपधारय,
अहम्, कृत्स्नस्य, जगतः, प्रभवः, प्रलयः, तथा।

हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं और मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का मूल कारण हूँ।

Arjuna, know that all beings have evolved from this twofold Prakṛti, and that I am the source of the entire creation, and into Me again it dissolves.

श्लोक 4, 5 व 6 की व्याख्या —

इन श्लोकों में भगवान् ने संसार की संरचना समझाई है। संसार दो प्रकृतियों से मिलकर बना है – जड़ व चेतन। जड़ प्रकृति के आठ घटक (Constituents) हैं – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि व अहंकार और दूसरी प्रकृति है चेतन जिससे यह सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता है अर्थात् Motive Force. दोनों प्रकृतियाँ एक दूसरे के बिना अधूरी हैं, सृष्टि चलाने में असमर्थ हैं। श्लोक 6 में बताया है कि ये दोनों ही सृष्टियाँ भगवान् से उत्पन्न हुई हैं अर्थात् भगवान् ही जगत के मूल कारण हैं। ये दोनों सृष्टियाँ भगवान् से ही पैदा होती हैं और भगवान् में ही लय हो जाती हैं।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ 7॥

मत्तः, परतरम्, न, अन्यत्, किञ्चित्, अस्ति, धनञ्जय, मयि, सर्वम्, इदम्, प्रोतम्, सूत्रे, मणिगणाः, इव।

हे धनंजय! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मनियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।

There is nothing else besides Me, Arjuna. Like clusters of yarn-beads formed by knots on a thread, all this is threaded on Me.

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ 8॥

रसः, अहम्, अप्सु, कौन्तेय, प्रभा, अस्मि, शशिसूर्ययोः, प्रणवः, सर्ववेदेषु, शब्दः, खे, पौरुषम्, नृषु।

हे अर्जुन! मैं जलमें रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें ओंकार हूँ, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ।

Arjuna, I am sapidity in water and the radiance in the moon and the sun; I am the sacred syllable OṀ in all the Vedas, the sound in ether, and virility in men.

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ 9॥

पुण्यः, गन्धः, पृथिव्याम्, च, तेजः, च, अस्मि, विभावसौ, जीवनम्, सर्वभूतेषु, तपः, च, अस्मि, तपस्विषु।

मैं पृथ्वीमें पवित्र गन्ध और अग्निमें तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंमें उनका जीवन हूँ और तपस्वियोंमें तप हूँ।

I am the pure odour (the subtle principle of smell) in the earth and the brightness in fire; nay, I am the life in all beings and austerity in the ascetics.

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ 10॥

बीजम्, माम्, सर्वभूतानाम्, विद्धि, पार्थ, सनातनम्, बुद्धिः, बुद्धिमताम्, अस्मि, तेजः, तेजस्विनाम्, अहम्।

हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण भूतोंका सनातन बीज मुझको ही जान। मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूँ।

Arjuna, know Me the eternal seed of all beings. I am the intelligence of the intelligent; the glory of the glorious am I.

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ 11॥

बलम्, बलवताम्, च, अहम्, काम–राग–विवर्जितम्,
धर्म–अविरुद्धः, भूतेषु, कामः, अस्मि, भरतर्षभ।

हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवानोंका आसक्ति और कामनाओं रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल अर्थात् शास्त्रके अनुकूल काम हूँ।

Arjuna, of the mighty I am the might, free from passion and desire; in beings I am the sexual desire not conflicting with virtue or scriptural injunctions.

श्लोक 7 से 11 की व्याख्या —

इन श्लोकों में भगवान् ने बताया है कि सारी सृष्टि का परम कारण केवल भगवान् ही हैं, उन्हीं के बल से सारी सृष्टि चलती है, सारा संसार उन्हीं में गुँथा हुआ है जैसे धागे की गाँठें धागे से ही बनी होती हैं। कुछ वस्तुओं का उदाहरण देकर समझाया है जैसे जल में जो रस है, चन्द्रमा व सूर्य में जो प्रकाश है, पृथ्वी में गन्ध, अग्नि में जो तेज है, वह सब भगवान् का ही है, इन सब देवों की स्वयं की कोई शक्ति नहीं है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ 14॥

दैवी, हि, एषा, गुणमयी, मम, माया, दुरत्यया,
माम्, एव, ये, प्रपद्यन्ते, मायाम्, एताम्, तरन्ति, ते।

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परन्तु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।

For, this most wonderful Māyā (veil) of Mine, consisting of the three Guṇas (modes of Nature), is extremely difficult to breakthrough; those, however, who constantly adore Me alone, are able to cross it.

व्याख्या – श्लोक 13 व 14 में कहा गया है कि साधारण मनुष्य भगवान् की ऊपर बताई गई शक्ति से अनभिज्ञ हैं क्योंकि उनका ज्ञान सात्त्विक, राजस व तामस – इन तीनों भावों से ढका हुआ है, इन्हीं से प्रेरित होकर मनुष्य अच्छे व बुरे कर्म में प्रवृत्त होता है और उन्हीं कर्मों का फल भोगने हेतु बार-बार जन्म लेता रहता है। यहाँ यह भी बताया गया है कि यही भगवान् की माया है जो बड़ी दुस्तर है। मनुष्य अपनी शक्ति से, प्रयत्न से इसे पार नहीं कर सकता। इसे केवल वही पार कर सकता है जो केवल भगवान् पर आश्रित है और निरन्तर उनको भजता है परन्तु इतना निश्चित है कि माया को पार किये बिना ईश्वर को जान पाना असम्भव है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ 16॥

चतुर्विधाः, भजन्ते, माम्, जनाः, सुकृतिनः, अर्जुन, आर्तः, जिज्ञासुः, अर्थार्थी, ज्ञानी, च, भरतर्षभ।

हे भरतवंशियोंसे श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी – ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं।

Four types of devotees of noble deeds worship Me, Arjuna, the seeker after wordly possessions, the afflicted, the seeker for knowledge, and the man of wisdom, O best of Bharatas.

व्याख्या – श्लोक 15 में भगवान् ने बताया है कि दूषित कर्म करने वाले लोग कभी भगवान् को नहीं भजते। प्रस्तुत श्लोक में भगवान् कह रहे हैं कि उत्तम कर्म करने वाले ही भगवान् की आराधना करते हैं। यहाँ भक्तों के चार प्रकार बताये गये हैं। एक होते हैं अर्थार्थी अर्थात् सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति हेतु भजने वाले। दूसरे प्रकार के भक्त होते हैं संकट निवारण के लिये भजने वाले। ये दोनों ही प्रकार के भक्त प्रायः उद्देश्य की पूर्ति होने के पश्चात् भजन छोड़ देते हैं, फिर भी भगवान् उनको उत्तम कर्म करने वाले कहते हैं क्योंकि उन्होंने किसी कारण से सही, भगवान् का भजन तो किया। तीसरी प्रकार के भक्त वे होते हैं जो भगवान् को पूर्ण रूप से जानने की इच्छा से भजते हैं। ये भक्त वे होते हैं जो अपने प्रयत्न से तत्त्वज्ञान प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाते हैं और अन्त में भगवान् की ही शरण में आते हैं। चौथे प्रकार के वे भक्त होते हैं जो पूर्ण ज्ञानी होते हैं, जिन्हें सर्वत्र भगवान् के ही दर्शन होते हैं। पूर्ण ज्ञान होने पर ज्ञानी अनन्य भक्त हो जाता है। वह भगवान् को कभी भूलता ही नहीं है, स्वभावतः ही भगवान् का स्मरण करता रहता है, उसके प्रेम में डूबा रहता है जिसके बदले में उसकी कुछ भी चाहना नहीं होती। ऐसे भक्त अत्यन्त दुर्लभ होते हैं। भगवान् ने स्वयं ही कहा है – **वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।**

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ 21॥

यः, यः, याम्, याम्, तनुम्, भक्तः, श्रद्धया, अर्चितुम्, इच्छति, तस्य, तस्य, अचलाम्, श्रद्धाम्, ताम्, एव, विदधामि, अहम्।

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस-उस भक्तकी श्रद्धाको मैं उसी देवताके प्रति स्थिर करता हूँ।

Whatever celestial form a devotee (craving for some worldly object) chooses to worship with reverence, I stabilize the faith of that particular devotee in that very form.

व्याख्या – इस श्लोक में भगवान् ने देवताओं को पूजने की स्थिति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। सर्वविदित है कि भारतवर्ष में देवी-देवताओं की भरमार है। विडम्बना यह है जो भी व्यक्ति किसी भी देवी-देवता की पूर्ण श्रद्धा से आराधना करता है, उसकी मनोकामना पूरी हो जाती है जिससे उसकी श्रद्धा और बढ़ जाती है। भगवान् इसका रहस्योद्घाटन करते हुए कहते हैं कि (1) जिस देवता को भी मनुष्य पूजना चाहता है उसमें उसकी श्रद्धा को भगवान् ही स्थापित करते हैं। (2) उस देवता में इच्छा पूर्ति की सामर्थ्य भी भगवान् ही देते हैं। इस प्रकार सभी मनुष्य सकाम भाव से परोक्ष रूप से भगवान् की ही पूजा करते हैं और कामनाओं की पूर्ति से सन्तुष्ट होकर प्रतिदिन नई कामनाओं से घिरे रहते हैं और उनकी सन्तुष्टि के बाद भी दुःखी रहते हैं।

भगवान् कहते हैं कि ऐसे भक्त भगवान् को प्राप्त न करके देवताओं तक ही सीमित रहते हैं और कोल्हू के बैल की तरह संसार के चक्र में ही घूमते रहते हैं। इसके विपरीत ज्ञानी जो स्वाभाविक ही भगवान् का भजन करते रहते हैं, वे तो भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं, या यूँ कहें कि वे तो भगवान् की आत्मा ही हैं (श्लोक 17)। श्लोक 23

में भगवान् ने बताया है कि देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्त में वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ 26॥

वेद, अहम्, समतीतानि, वर्तमानानि, च, अर्जुन,
भविष्याणि, च, भूतानि, माम्, तु, वेद, न, कश्चन।

हे अर्जुन! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता।

Arjuna, I know all beings, past as well as present, nay, even those that are yet to come; but none, devoid of faith and devotion, knows Me.

व्याख्या – श्लोक 24, 25 व 26 में भगवान् कह रहे हैं कि मैं जब मनुष्य रूप में अवतार लेता हूँ तो साधारण मानव मेरे दिव्य रूप को पहचान नहीं पाते क्योंकि मैं अपनी योगमाया से छिपा हुआ सबके प्रत्यक्ष नहीं होता। यद्यपि मैं भूत, भविष्य, वर्तमान में होने वाले सब जीवों व घटनाओं को जानता हूँ, मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्ति रहित पुरुष नहीं जान पाता।[1]

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ 27॥

1 महाभारत में एक स्थान पर आया है कि कृष्ण के जीवन काल में गीता-ज्ञान से पहले तीन व्यक्ति कृष्ण को भगवान् जानते थे – भीष्म, कृपाचार्य और विदुर।

इच्छा-द्वेष-समुत्थेन, द्वन्द्वमोहेन, भारत,
सर्वभूतानि, सम्मोहम्, सर्गे, यान्ति, परन्तप।

हे भरतवंशी अर्जुन! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं।

O valiant Arjuna, through delusion in the form of pairs of opposites (such as pleasure and pain etc.) born of desire and aversion, all living creatures in this world are falling prey to infatuation.

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ 28॥

येषाम्, तु, अन्तगतम्, पापम्, जनानाम्, पुण्यकर्मणाम्,
ते, द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ताः, भजन्ते, माम्, दृढव्रताः।

परन्तु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मुक्त दृढ़निश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं।

But those men of virtuous deeds, whose sins have come to an end, being freed from delusion in the form of pairs of opposites born of attraction and repulsion, worship Me with a firm resolve in every way.

श्लोक 27 व 28 की व्याख्या —

श्लोक 27 में भगवान् ने इच्छा और द्वेष को सब दुःखों का कारण बताया है तो श्लोक 28 में तो सारे कर्मकाण्डों व आडम्बरों की इतिश्री करते हुए ईश्वर प्राप्ति का सीधा सरल रास्ता बता दिया। वह रास्ता है

राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से मुक्त होकर निष्काम भाव से श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करना। भगवान् न तो व्रत, उपवास करने को कहते हैं, न पूजा-आरती आदि करने को कहते हैं, न संन्यासी होने के लिये कहते हैं। निर्देश है केवल शुभ कर्मों का आचरण करने के लिये, स्वार्थ रहित होने के लिये, अहंभाव का त्याग करने के लिये, परिस्थिति व सामर्थ्य अनुसार कर्तव्य कर्म करने के लिये।

❖ ❖ ❖

अध्याय 8

इस अध्याय को **'अक्षरब्रह्म योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 28 श्लोक हैं जिसमें से 6 श्लोकों का चयन किया गया है। इस अध्याय के मुख्य विषय ये हैं – अन्तकाल में भगवत्स्मरण का फल, निरन्तर भगवच्चिन्तन करने की आज्ञा, दिव्य पुरुष के स्वरूप का वर्णन व चिन्तन की विधि, ब्रह्मा के रात–दिन का परिमाण, प्राणियों की बार–बार उत्पत्ति और प्रलय, मृत्यु के बाद की दो गतियों का वर्णन।

श्रीभगवानुवाच —

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥5॥

अन्तकाले, च, माम्, एव, स्मरन्, मुक्त्वा, कलेवरम्, यः, प्रयाति, सः, मद्भावम्, याति, न, अस्ति, अत्र, संशयः।

श्रीभगवान् बोले — जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है – इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

Śrī Bhagvān said : He who departs from the body, thinking of Me alone even at the time of death, attains My state; there is no doubt about it.

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥6॥

यम्, यम्, वा, अपि, स्मरन्, भावम्, त्यजति, अन्ते, कलेवरम्, तम्, तम्, एव, एति, कौन्तेय, सदा, तद्भावभावितः।

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।

Arjuna, thinking of whatever entity one leaves the body at the time of death, that and that alone one attains, being ever absorbed in its thought.

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ 7॥

तस्मात्, सर्वेषु, कालेषु, माम्, अनुस्मर, युध्य, च, मयि, अर्पित-मनः-बुद्धिः, माम्, एव, एष्यसि, असंशयम्।

इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।

Therefore, Arjuna, think of Me at all times and fight. With mind and reason thus set on Me, you will doubtless come to Me.

श्लोक 5, 6 व 7 की व्याख्या —

इन श्लोकों में भगवान् एक नई बात बता रहे हैं – कहते हैं जो पुरुष अन्तकाल में भी मेरा स्मरण करता हुआ प्राण त्यागता है वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है क्योंकि यह मेरा बनाया हुआ नियम है कि जिस भाव का स्मरण अन्त काल में होता है, उसी के अनुसार जीव

को अगला शरीर प्राप्त होता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि अन्तकाल में वही स्मरण आता है जिस भाव में रहने की आदत बन चुकी है। यह सम्भव नहीं है कि जीवन भर मनुष्य दुष्कर्म करता रहे और अन्त समय में भगवान् का स्मरण कर ले। इसीलिये शब्द प्रयोग किया गया – 'अन्तकाल में भी'। अतः भगवान् की आज्ञा है कि मनुष्य को चाहिये वह हर समय मेरा स्मरण करता रहे और कर्तव्य भी करता रहे – **मामनुस्मर युद्ध च**। ऐसा तभी हो सकता है जब मन और बुद्धि दोनों भगवान् के अर्पण कर दे।

इस प्रसंग में हमें थोड़ा सा व्यावहारिक होकर आत्म विश्लेषण की आवश्यकता है। सर्वप्रथम हमें यह निर्णय करना है कि हमारे जीवन का उद्देश्य क्या है। मानव जीवन की दुर्लभता का विचार करके ईश्वर प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना अथवा प्रारब्ध से प्राप्त भोगों को भोग कर फिर से वहीं आ जाना जहाँ से जीवन प्रारम्भ किया था। साधारण व्यक्ति जीवन के मूल्य को और उद्देश्य को कोई महत्त्व नहीं देता और सुबह से शाम तक सांसारिक झंझटों में उलझा रहता है, मन और बुद्धि का प्रयोग धन संचय अथवा मान बड़ाई आदि बटोरने के लिये करता है। यह सोचने का समय ही नहीं होता कि जो कुछ भी वह कर रहा है उसमें से मृत्यु के बाद साथ जाने वाला क्या है। गीता में स्पष्ट ही कहा गया है कि मृत्यु के बाद जीव दूसरी देह धारण करता ही है और वह देह हमें इस जन्म में किये गये कर्मों के आधार पर ही मिलती है। यदि जन्म-मरण के चक्र से छूटना हो तो अभी से उस रास्ते को पकड़ना होगा जो भगवान् ने गीता में बताया है। बुद्धि के द्वारा मन को सयंमित करके उसको भटकने से रोकना होगा।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ 14॥

अनन्यचेताः, सततम्, यः, माम्, स्मरति, नित्यशः,
तस्य, अहम्, सुलभः, पार्थ, नित्ययुक्तस्य, योगिनः।

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

Arjuna, whosoever always and constantly thinks of Me with undivided mind, to that Yogī ever absorbed in Me I am easily attainable.

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ 15॥

माम्, उपेत्य, पुनर्जन्म, दुःखालयम्, अशाश्वतम्,
न, आप्नुवन्ति, महात्मानः, संसिद्धिम्, परमाम्, गताः।

परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभंगुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।

Great souls, who have attained the highest perfection, having come to Me, are no more subject to transitory rebirth, which is the abode of sorrow, and transient by nature.

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ 16॥

आ-ब्रह्म-भुवनात्, लोकाः, पुनरावर्तिनः, अर्जुन,
माम्, उपेत्य, तु, कौन्तेय, पुनर्जन्म, न, विद्यते।

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं, परन्तु हे कुन्तीपुत्र! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं।

Arjuna, all the worlds from Brahmaloka (the heavenly realm of the creator, Brahmā) downwards are liable to birth and rebirth. But, O son of Kuntī, on attaining Me there is no rebirth (For, while I am beyond Time, regions like Brahmaloka, being conditioned by time, are transitory).

श्लोक 14, 15 व 16 की व्याख्या —

यहाँ भगवान् कह रहे हैं कि जो पुरुष केवल मुझ पुरुषोत्तम को ही निरन्तर स्मरण करता रहता है उसको ईश्वर की प्राप्ति सुलभ है। ईश्वर को प्राप्त होने का फल यह होता है कि फिर उस जीव का पुनर्जन्म नहीं होता जो क्षणभंगुर और दुःखों का घर है। भगवान् ने यहाँ यह भी स्पष्ट किया है कि मेरे परमधाम के अतिरिक्त सब लोक पुनरावर्ती हैं। अर्थात् ब्रह्मा तक काल के द्वारा सीमित हैं, अनित्य हैं, किन्तु जो मेरा भक्त मुझे प्राप्त कर लेता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता, वह निरन्तर मेरे धाम में निवास करता है।

निरन्तर स्मरण करने का अर्थ यह नहीं है कि सब काम छोड़कर भजन-पूजन करता रहे। श्रेष्ठ कर्मों का आचरण जैसे यज्ञ, दान व तप – ये सभी सात्त्विक हों तो भी वह भजन ही है। आगे के अध्याय 12 व 16 में भी शुभ कर्मों का वर्णन किया गया है। अध्याय 18 में भी सात्त्विक कर्म समझाये गये हैं।

परन्तु क्या निरन्तर स्मरण करना सम्भव है। इस समस्या का हल भगवान् सातवें अध्याय के 28वें श्लोक में दे चुके हैं जिसमें बताया था कि जो व्यक्ति श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करते हैं वे सब प्रकार से

मेरा भजन ही करते हैं। अब प्रश्न उठता है कि श्रेष्ठ कर्म कौन से हैं और निम्न कर्म कौन से हैं। इसका उत्तर आगे अध्याय 16 में मिलेगा।

उल्लेखनीय है कि गीता को समग्र रूप से पढ़ना आवश्यक है, तभी इसका आशय समझ में आ सकता है।

❖ ❖ ❖

अध्याय 9

इस अध्याय को **'राजविद्याराजगुह्य योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 34 श्लोक हैं जिसमें से 17 श्लोकों का चयन किया गया है। इस अध्याय के मुख्य विषय ये हैं – अध्याय-7 में प्रारम्भ में किये गये ज्ञान-विज्ञान का विस्तार, सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का कथन, भगवान् की अध्यक्षता में प्रकृति द्वारा चराचर जगत की उत्पत्ति, भगवान् के गुण, विभूतियों व प्रभाव का वर्णन, अपने भक्तों के योग क्षेम की प्रतिज्ञा, उपासना के अनुसार फल प्राप्ति का कथन, दुराचारियों को भी भगवान् की प्राप्ति का कथन, शरणागति का फल।

श्रीभगवानुवाच —

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ 7॥

सर्वभूतानि, कौन्तेय, प्रकृतिम्, यान्ति, मामिकाम्,
कल्पक्षये, पुनः, तानि, कल्पादौ, विसृजामि, अहम्

श्रीभगवान् बोले — हे अर्जुन! कल्पोंके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृतिमें लीन होते हैं और कल्पोंके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ।

Śrī Bhagvān said : Arjuna, during the Final Dissolution all beings enter My Prakṛti (the prime cause), and at the beginning of creation, I send them forth again.

व्याख्या – यहाँ भगवान् ने प्रकृति के आदि अन्त के बारे में भी बता दिया कि अन्त में किस प्रकार सब भूत भगवान् में समा जाते हैं और अध्याय 8 में बताई गई अवधि के पश्चात् किस प्रकार भगवान्

पुनः उस भूतसमुदाय को उनके कर्मों के अनुसार सृजन करते हैं – **'प्रकृतेर्वशात्'**

यहाँ यह बात समझने की है कि कर्म कभी नष्ट नहीं होते – कल्प का अन्त होने के बाद भी, जब तक उनका फल न भोग लिया जाये। इसीलिये श्रीमद् देवीभागवत तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी कहा गया है –

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्ते क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ 10॥

मया, अध्यक्षेण, प्रकृतिः, सूयते, सचराचरम्,
हेतुना, अनेन, कौन्तेय, जगत्, विपरिवर्तते।

हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे (तत्त्वाधानमें) प्रकृति चराचरसहित सर्व जगत्को रचती है और इस हेतुसे ही यह संसारचक्र घूम रहा है।

Arjuna, under My aegis, Nature brings forth the whole creation, consisting of both sentient and insentient beings; it is due to this cause that the wheel of Saṁsāra is going round.

व्याख्या – इस श्लोक में भगवान् ने बताया है कि सृष्टि के रचने का कार्य भगवान् की सत्तामात्र से ही होता है – भगवान् को कुछ करना नहीं पड़ता, जैसे सूर्य की उपस्थिति मात्र से ही प्रकाश हो जाता है, सूर्य को कुछ करना नहीं पड़ता। संसार की रचना भगवान् की माया (प्रकृति) मनुष्य के कर्मों के आधार पर करती है।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ 13॥

महात्मानः, तु, माम्, पार्थ, दैवीम्, प्रकृतिम्, आश्रिताः, भजन्ति, अनन्यमनसः, ज्ञात्वा, भूतादिम्, अव्ययम्।

परन्तु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।

On the other hand, Arjuna, great souls who have embraced the divine nature, knowing Me as the prime source of all beings and the imperishable eternal, worship Me constantly with one-pointedness of mind.

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ 14॥

सततम्, कीर्तयन्तः, माम्, यतन्तः, च, दृढव्रताः, नमस्यन्तः, च, माम्, भक्त्या, नित्ययुक्ताः, उपासते।

वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।

Constantly chanting My names and glories and striving for My realization, and bowing again and again to Me, those devotees of firm resolve, ever united with me through meditation, worship Me with single-minded devotion.

श्लोक 13 व 14 की व्याख्या —

जो लोग दैवी प्रकृति के आश्रित हैं अर्थात् जिन्होंने अध्याय 16 में वर्णित 26 गुणों को धारण किया हुआ है, ऐसे व्यक्ति जब यह समझ जाते हैं कि भगवान् ही सारी सृष्टि के परम कारण हैं, नाशरहित हैं, तो वे केवल भगवान् का ही भजन करते रहते हैं, भगवान् को प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय करके उनकी प्राप्ति के लिये बार-बार प्रणाम करते हुए यत्न करते रहते हैं। जब हम किसी ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में आते हैं जो सर्वशक्तिमान हो, अत्यन्त आकर्षक रूप वाला हो, सब प्रकार से हमारा हितैषी हो, बिना कारण हम से प्रेम करने वाला हो तो ऐसा व्यक्ति सदैव ही हमारे मन में, विचारों में बसा रहता है जैसे अबोध बच्चे के मन में माँ हर समय बसी रहती है। यही सम्बन्ध भक्त का भगवान् के साथ हो जाता है। इन दो श्लोकों में भगवान् ने भक्ति से ईश्वर प्राप्ति की बात कर के अगले श्लोक में निर्गुण निराकार की उपासना करने वालों के विषय में बताया है कि यह भी एक मार्ग है ईश्वर को प्राप्त करने का।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ 16॥

अहम्, क्रतुः, अहम्, यज्ञः, स्वधा, अहम्, अहम्, औषधम्, मन्त्रः, अहम्, अहम्, एव, आज्यम्, अहम्, अग्निः, अहम्, हुतम्।

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, औषधि मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ।

I am the Vedic ritual, I am the sacrifice, I am the offering to the departed; I am the herbage and foodgrains; I am the sacred mantra, I am the clarified butter, I am the sacred fire, and I am verily the act of offering oblations into the fire.

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥ 17॥

पिता, अहम्, अस्य, जगतः, माता, धाता, पितामहः, वेद्यम्, पवित्रम्, ओङ्कारः, ऋक्, साम, यजुः, एव, च।

इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला, पिता, माता, पितामह, जाननेयोग्य, पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ।

I am the sustainer and ruler of this universe, its father, mother and grandfather, the one worth knowing, the purifier, the sacred syllable OṀ, and the three Vedas – Ṛk, Yajuṣ and Sāma.

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ 18॥

गतिः, भर्ता, प्रभुः, साक्षी, निवासः, शरणम्, सुहृत्, प्रभवः, प्रलयः, स्थानम्, निधानम्, बीजम्, अव्ययम्।

प्राप्त होनेयोग्य परम धाम, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलयका हेतु, स्थितिका आधार, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ।

I am the supreme goal, sustainer, lord, witness, abode, refuge, well-wisher seeking no return, origin and end, resting-place, store-house to which all beings return at the time of universal destruction, and the imperishable seed.

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ 19॥

तपामि, अहम्, अहम्, वर्षम्, निगृह्णामि, उत्सृजामि, च, अमृतम्, च, एव, मृत्युः, च, सत्, असत्, च, अहम्, अर्जुन।

मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, वर्षाका आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँ। हे अर्जुन! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत्–असत् भी मैं ही हूँ।

I radiate heat as the sun, and hold back as well as send forth showers, Arjuna. I am immortality as well as death; even so, I am being and also non-being.

श्लोक 16 से 19 की व्याख्या —

इन सभी श्लोकों में भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है। स्वयं के बारे में खुलासा करने की दिशा में भगवान् ने अध्याय 7 के क्रम को आगे बढ़ाते हुए बताया है कि सभी कुछ उनकी शक्ति से ही होता है जिसके बिना किसी का अस्तित्त्व नहीं है। कहते हैं सम्पूर्ण जगत का धारण करने वाला, कर्मों का फल देने वाला पिता, माता, पितामह, जानने योग्य मैं हूँ, सूर्य का तेज मैं हूँ, भरण–पोषण करने वाला, शरण लेने योग्य, सबका हितैषी, अमृत, मृत्यु – सब कुछ मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जो देवता मनुष्यों की कामना की पूर्ति करते हैं वे भी भगवान् की शक्ति से ही करते हैं, उनकी अपनी कोई सामर्थ्य नहीं है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ 22॥

अनन्याः, चिन्तयन्तः, माम्, ये, जनाः, पर्युपासते,
तेषाम्, नित्य-अभियुक्तानाम्, योगक्षेमम्, वहामि, अहम्।

जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।

The devotees, however, who loving no one else constantly think of Me, and worship Me in a disinterested spirit, to those ever united in thought with Me, I bring full security and personally attend to their needs.

व्याख्या – जो भगवान् को बिना किसी कामना के भजते हैं, यहाँ तक कि मोक्ष की भी कामना नहीं करते, उनका योगक्षेम भगवान् स्वयं ही कर देते हैं अर्थात् जो कुछ भी ऐसे भक्त के हित में होता है चाहे भोग हों या मोक्ष हो वही उस को दे देते हैं और वह भक्त उस को सहर्ष स्वीकार करता है चाहे प्रत्यक्ष रूप से वह स्थिति दुःखदायी ही क्यों न हो।

कई बार देखा जाता है कि जो व्यक्ति हर समय भगवान् में लीन रहता है उसे भी दुःख भोगने पड़ते हैं परन्तु वह भक्त उस को दुःख समझता ही नहीं है, उसे तो हर परिस्थिति में भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन होते रहते हैं। स्वयं भगवान् राम ने बनवास को दुःख नहीं समझा, भरत ने नन्दिग्राम वास को दुःख नहीं माना। यह पूर्ण समर्पण की स्थिति होती है। महाभारत में जिस प्रकार द्रोपदी के पूर्ण समर्पण करते ही भगवान् ने लाज बचाई, गजेन्द्र की कथा, भक्त प्रहलाद, मीराबाई जैसे अनेकों पूर्ण समर्पण के उदाहरण हैं जहाँ भगवान् ने स्वयं आकर रक्षा की।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ 23॥

ये, अपि, अन्यदेवताः, भक्ताः, यजन्ते, श्रद्धया, अन्विताः,
ते, अपि, माम्, एव, कौन्तेय, यजन्ति, अविधिपूर्वकम्।

हे अर्जुन! यद्यपि श्रद्धासे युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं; किन्तु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है।

Arjuna, even those devotees who, endowed with faith, worship other gods (with some interested motive) worship Me alone, though with a mistaken approach.

व्याख्या – कुछ भक्त ऐसे होते हैं जो भगवान् को न भज कर अन्य देवताओं का पूजन करते हैं जो उनकी मनोकामनाओं को पूर्ण कर देते हैं। यहाँ भगवान् कह रहे हैं कि ऐसे भक्त भी वास्तव में मेरा ही पूजन करते हैं क्योंकि वे देवता भी भगवान् की शक्ति से कामनाओं की पूर्ति करते हैं किन्तु उनका यह पूजन अविधिपूर्वक है। अगले श्लोक में बताया गया है कि लोग परमेश्वर को तत्त्व से नहीं जानते, इसी से कामनाओं की पूर्ति होने से ही सन्तुष्ट रहते हैं और पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ 25 ॥

यान्ति, देवव्रताः, देवान्, पितॄन्, यान्ति, पितृव्रताः,
भूतानि, यान्ति, भूत–इज्याः, यान्ति, मत्–याजिनः–अपि, माम्।

देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं, भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करनेवाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं। इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता।

Those who are votaries of gods, go to gods, those who are votaries of manes, reach the manes; those who adore the spirits, reach the spirits and those who worship Me, come to Me alone. That is why My devotees are no longer subject to birth and death.

व्याख्या – इस श्लोक में भगवान् ने तत्त्वज्ञानी भक्तों तथा अन्य भक्तों का अन्तर बताते हुए कहा है कि देवताओं आदि को पूजने वाले उन्हीं को प्राप्त होते हैं लेकिन केवल भगवान् को पूजने वालों का ही पुनर्जन्म नहीं होता क्योंकि वे भगवान् को प्राप्त करते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ 26॥

पत्रम्, पुष्पम्, फलम्, तोयम्, यः, मे, भक्त्या, प्रयच्छति, तत्, अहम्, भक्ति, उपहृतम्, अश्नामि, प्रयतात्मनः।

जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।

Whosoever offers Me with love a leaf, a flower, a fruit or water, I appear in person before that selfless devotee of sinless mind, and delightfully partake of that article offered by him with love.

व्याख्या – भगवान् कहते हैं कि उनका पूजन करने के लिये अधिक धन, सम्पत्ति या अन्य किसी आडम्बर की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है तो केवल श्रद्धा, भक्ति और प्रेम की। प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ तो पत्र पुष्प, फल, जल आदि भी उन्हें स्वीकार्य है।

रामचरितमानस में भगवान् राम ने भाव के वश में होकर शबरी के झूठे बेर खाये हैं तो भागवत में भगवान् कृष्ण ने दुर्योधन की मेवा त्याग कर विदुर के घर भोजन किया है, और गरीब सुदामा की झोली से झपट कर कच्चे तन्दुल भी चबाये हैं।

यह बात उन लोगों के लिये है जो श्रद्धालु हैं किन्तु पूजा अर्चना आदि के लिये साधन-सम्पन्न नहीं हैं। ऐसे भक्तों को हीन भावना से बचाने के लिये ऐसा कहा गया है कि भगवान् को प्रसन्न करने के लिये प्रेम की आवश्यकता है न कि सम्पन्नता की।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ 27॥

यत्, करोषि, यत्, अश्नासि, यत्, जुहोषि, ददासि, यत्, यत्, तपस्यसि, कौन्तेय, तत्, कुरुष्व, मदर्पणम्।

हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।

Arjuna, whatever you do, whatever you eat, whatever you offer as oblation to the sacred fire, whatever you bestow as a gift, whatever you do by way of penance, offer all that to Me.

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ 28॥

शुभ-अशुभ-फलैः-एवं, मोक्ष्यसे, कर्मबन्धनैः,
संन्यास-योग-युक्त-आत्मा, विमुक्तः, माम्-उपैष्यसि।

इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं – ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।

With your mind thus established in the Yoga of renunciation (offering of all actions to Me), you will be freed from the bondage of action in the form of good and evil results; thus freed from them, you will attain Me.

व्याख्या – इन दो श्लोकों में भगवान् कहते हैं कि जो कुछ भी तू करता है, करता रह। करना केवल यह है कि तू जो भी कर्म करता है, खाता है अथवा हवन, दान, तप आदि जो भी करता है वह अपने लिये न करके स्वार्थ रहित होकर मेरे लिये कर, उसको समझ कि यह सब कार्य मैं भगवान् के लिये कर रहा हूँ। यदि तू ऐसा करेगा तो सब प्रकार के बन्धन से मुक्त होकर भगवान् को ही प्राप्त करेगा, क्योंकि बन्धन कारक तो शुभकर्म भी होते हैं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ 30॥

अपि, चेत्, सुदुराचारः, भजते, माम्, अनन्यभाक्,
साधुः, एव, सः, मन्तव्यः, सम्यक्, व्यवसितः, हि, सः।

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।

Even if the vilest sinner worships Me with exclusive devotion, he should be regarded a saint; for, he has rightly

resolved. (He is positive in his belief that there is nothing like devoted worship of God.)

व्याख्या – भगवान् कहते हैं कि भजन करने का और ईश्वर प्राप्ति का अधिकार सभी जीवों को है। यहाँ तक कि कोई दुराचारी भी यदि पक्का निश्चय करके दुराचार छोड़कर अनन्य भाव से भगवान् का भजन करे तो वह भी साधु ही मानने योग्य हो जाता है। वाल्मीकि ऋषि इसका ज्वलन्त उदाहरण है जो एक खूंखार डाकू से रामायण की रचना करने वाले संस्कृत के आदि कवि के रूप में प्रसिद्ध हुए। अगले श्लोक में कहा है कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं हो सकता। इसके लिये भागवत में राजा अम्बरीष की कथा आती है जो भगवान् का अनन्य भक्त था और जब ऋषि दुर्वासा ने शाप देने का प्रयास किया तो भगवान् का सुदर्शन चक्र दुर्वासा के पीछे लग गया।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ 32॥

माम्, हि, पार्थ, व्यपाश्रित्य, ये, अपि, स्युः, पापयोनयः, स्त्रियः, वैश्याः, तथा, शूद्राः, ते, अपि, यान्ति, पराम्, गतिम्

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं॥ 32॥

Arjuna! women, Vaisyas (members of the trading and agriculturist classes), Sūdras (those belonging to the labour and artisan classes), as well as those of impious birth (such as the pariah), whoever they may be, taking refuge in Me, they too attain the supreme goal.

व्याख्या – इस श्लोक में भगवान् ने अपना स्वभाव खोलकर रख दिया। कहते हैं कि स्त्री, पुरुष, पापयोनि, शूद्र, वैश्य – कोई भी हो, कितना भी पापी हो, नीच हो, अनाधिकारी हो – मेरी शरण में आते ही परम गति को प्राप्त हो जाता है। (इसी बात की पुष्टि अध्याय 18 के श्लोक 66 में की गई है।)

रामायण व भागवत में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे भगवान् का यह कथन सिद्ध होता है। अजामिल, पूतना, द्रोपदी, शबरी, विभीषण, जाम्बवन्त, बाली, जटायु, अहिल्या, केवट आदि सभी ने शरणागत होकर परम गति प्राप्त की है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ 34॥

मत्–मनाः, भव, मद्भक्तः, मत्–याजी, माम्, नमस्कुरु, माम्, एव, एष्यसि, युक्त्वा, एवम्, आत्मानम्, मत्परायणः।

मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।

Fix your mind on Me, be devoted to Me, worship Me and make obeisance to Me, thus linking yourself with Me and entirely depending on Me, you shall come to Me.

व्याख्या – इस श्लोक में भगवान् ऊपर के श्लोकों में बताये गये तर्कों के आधार पर आदेश देते हैं कि अर्जुन तू मेरा भक्त बन, मेरा पूजन कर, मुझे ही प्रणाम कर, जिससे अन्त में तू मुझे ही प्राप्त करेगा। इस श्लोक में मुख्य शब्द हैं – **मन्मना भव मद्भक्तो** – मेरे में मन वाला हो, मेरा भक्त बन। हमें देखना होगा कि हमारा मन कहाँ रहता है – माता में, पिता में, भाई बहनों में, पुत्र में पत्नी (या पति) में,

तन में, धन में, मकान में, मित्रों में या अन्य परिवार में। उसी मन को भगवान् में लगाना होगा, भगवान् का ही भक्त बनना होगा। इस अध्याय में बताये गये भगवान् के स्वरूप, गुण व शक्तियों को ध्यान में रखा जाय तो स्वतः ही भगवान् में आकर्षित होंगे। इसके अतिरिक्त भगवान् की लीला कथाओं का गायन, श्रवण व मनन करने से भी भगवान् में आसक्ति हो जाती है और संसार में आसक्ति कम होती है।

यह श्लोक इतना महत्त्वपूर्ण है कि गीता के बीच में कहने के बाद एक बार पुनः गीता के अन्त में (अध्याय 18 के श्लोक 65 में) दोहराया गया है।

❖ ❖ ❖

अध्याय 10

इस अध्याय को **'विभूति योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 42 श्लोक हैं जिसमें से 10 श्लोकों का चयन किया गया है। इस अध्याय में सर्वप्रथम भगवान् बताते हैं कि प्राणियों के विभिन्न प्रकार के भाव उन्हीं से उत्पन्न होते हैं और सनकादि, सप्तर्षि, चौदह मनु – ये सभी उनके संकल्प से ही उत्पन्न हुए हैं। उसके बाद बताया कि जो भगवान् में सदा रमण करते हैं उनके ऊपर किस प्रकार अनुग्रह करते हैं। फिर अर्जुन के पूछने पर अध्याय-7 व 9 में बताई गई विभूतियों के अतिरिक्त अन्य विभूतियों का वर्णन करते हैं जिससे प्रभु की सर्वव्यापकता का ज्ञान होता है और किस-किस वस्तु में उनके दर्शन किये जा सकते हैं। अध्याय के अन्त में बताया है कि संसार में जो भी शक्तियुक्त व कान्तियुक्त वस्तु है वह भगवान् के तेज की ही अभिव्यक्ति है।

श्रीभगवानुवाच —

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ 8॥

अहम्, सर्वस्य, प्रभवः, मत्तः, सर्वम्, प्रवर्तते,
इति, मत्वा, भजन्ते, माम्, बुधाः, भावसमन्विताः।

श्रीभगवान् बोले — मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं।

Śrī Bhagvān said : I am the source of all creation and everything in the world moves because of Me; knowing thus, the wise, full of devotion, constantly worship Me.

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥9॥

मच्चित्ताः, मद्गतप्राणाः, बोधयन्तः, परस्परम्,
कथयन्तः, च, माम्, नित्यम्, तुष्यन्ति, च, रमन्ति, च।

निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं।

With their minds fixed on Me, and their lives surrendered to Me, conversing and enlightening one another about My glories, My devotees ever remain contented and take delight in Me.

व्याख्या – श्लोक 8 में वर्णित भक्तजन सदा भगवान् में मन लगाये रहते हैं, आपस में जब भी कोई बात करते हैं तो भगवान् की ही चर्चा करते हैं, भगवान् का ही गुणगान करते हैं, अन्य सांसारिक विषयों की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। वे न तो किसी व्यक्ति के गुण–दोषों का वर्णन करते हैं, न धन, मकान, पुत्र, स्वास्थ्य, मौसम, सरकारी व्यवस्था आदि की बात करते हैं, केवल भगवान् के गुण व लीलाओं की चर्चा करके सन्तुष्ट होते रहते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥10॥

तेषाम्, सततयुक्तानाम्, भजताम्, प्रीतिपूर्वकम्,
ददामि, बुद्धियोगम्, तम्, येन, माम्, उपयान्ति, ते।

उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

On those ever united through meditation with Me and worshipping Me with love, I confer that Yoga of wisdom by which they come to Me.

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ 11॥

तेषाम्, एव, अनुकम्पार्थम्, अहम्, अज्ञानजम्, तमः,
नाशयामि, आत्मभावस्थः, ज्ञानदीपेन, भास्वता।

हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

In order to bestow My compassion on them, I, dwelling in their hearts, dispel their darkness born of ignorance by the illuminating lamp of knowledge.

श्लोक 10 व 11 की व्याख्या —

भगवान् कहते हैं ऐसे भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये मैं स्वयं ही (बिना किसी अतिरिक्त चेष्टा के), उनके हृदय के अज्ञान रूपी अन्धकार को ज्ञानरूपी दीपक के द्वारा नष्ट करके वह तत्त्वज्ञान प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझे ही प्राप्त कर लेते हैं। जब भगवान् को ही प्राप्त कर लिया तो शेष क्या रहा? भगवान् तो स्वयं प्रकाश रूप हैं

जो सबके हृदय में स्थित हैं। उस प्रकाश का ध्यान करते ही अज्ञान रूपी अन्धकार का आवरण हट जाता है।

अर्जुन उवाच –

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ 17॥

कथम्, विद्याम्, अहम्, योगिन्, त्वाम्, सदा, परिचिन्तयन्, केषु, केषु, च, भावेषु, चिन्त्यः, असि, भगवन्, मया।

इस पर अर्जुन ने पूछा — हे योगेश्वर! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन्! आप किन–किन भावोंमें मेरे द्वारा चिन्तन करनेयोग्य हैं?

Arjuna said : O Master of Yoga, through what process of continuous meditation shall I know You? And in what particular forms, O Lord, are You to be meditated upon by me?

व्याख्या – जैसे–जैसे अर्जुन को ज्ञान की प्राप्ति होती जाती है वैसे वैसे उसकी जिज्ञासा और बढ़ती जाती है। कहते हैं कि मैं मानता हूँ कि आप दिव्य पुरुष हैं, अनादि हैं, अजन्मा हैं, सर्वव्यापी हैं, लेकिन यह तो बताइये कि इस मानव देह के द्वारा आपका इस संसार में चिन्तन किस रूप में करूँ? इसके उत्तर में भगवान् श्लोक 20 से लेकर 39 तक अपनी विभूतियों का वर्णन करतें हैं।

श्रीभगवानुवाच —

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ 20॥

अहम्, आत्मा, गुडाकेश, सर्व–भूत–आशय–स्थितः, अहम्, आदिः, च, मध्यम्, च, भूतानाम्, अन्तः, एव, च।

श्रीभगवान् बोले — हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।

Śrī Bhagvān said : Arjuna, I am the universal Self seated in the hearts of all beings; so I alone am the beginning, the middle and also the end of all beings.

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ 32॥

सर्गाणाम्, आदिः, अन्तः, च, मध्यम्, च, एव, अहम्, अर्जुन, अध्यात्मविद्या, विद्यानाम्, वादः, प्रवदताम्, अहम्।

हे अर्जुन! सृष्टियोंका आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ। मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और परस्पर विवाद करनेवालोंका तत्त्व–निर्णयके लिये किया जानेवाला वाद हूँ।

Arjuna, I am the beginning, the middle and the end of all creations, Of all knowledge, I am the knowledge of the soul (metaphysics); among disputants, I am the right type of discussion.

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ 33॥

अक्षराणाम्, अकारः, अस्मि, द्वन्द्वः, सामासिकस्य, च, अहम्, एव, अक्षयः, कालः, धाता, अहम्, विश्वतोमुखः।

मैं अक्षरोंमें अकार हूँ और समासोंमें द्वन्द्व नामक समास हूँ, अक्षयकाल अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला, विराट्स्वरूप, सबका धारण–पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ।

Among the sounds represented by the various letters, I am 'A' (the sound represented by the first letter of the alphabet); of the different kinds of compounds in grammar, I am the copulative compound. I am verily the endless Time (the devourer of Time, God); I am the sustainer of all, having My face on all sides.

श्लोक 20 से 39 की व्याख्या —

इन श्लोकों की विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती क्योंकि ये स्वतः स्पष्ट हैं। जो भगवान् की विभूतियों को विस्तार से जानने के इच्छुक हों वे ये श्लोक गीता की पुस्तक में पढ़ें।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ 41॥

यत्, यत्, विभूतिमत्, सत्त्वम्, श्रीमत्, ऊर्जितम्, एव, वा, तत्, तत्, एव, अवगच्छ, त्वम्, मम्, तेजो–अंश–सम्भवम्।

जो–जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस–उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।

Every such being as is glorious, brilliant and powerful, know that to be a part manifestation of My glory.

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ 42॥

अथवा, बहुना, एतेन, किम्, ज्ञातेन, तव, अर्जुन, विष्टभ्य, अहम्, इदम्, कृत्स्नम्, एकांशेन, स्थितः, जगत्।

अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।

Or, what will you gain by knowing all this in detail, Arjuna? Suffice it to say that I hold this entire universe by a fraction of My Yogic Power.

व्याख्या – उपरोक्त श्लोकों में भगवान् ने बताया है कि संसार में जो-जो भी श्रेष्ठ वस्तुयें हैं उनमें तू मेरा दर्शन कर सकता है, जैसे वृक्षों में पीपल का वृक्ष, ऋतुओं में बसन्त ऋतु, नदियों में गंगा, ज्योतियों में सूर्य आदि। अन्त में कह दिया कि मेरी शक्ति के एक अंश मात्र से यह सारा जगत धारण किया गया है। रामायण में हनुमान जी ने रावण से यही कहा था – **'जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।'**

❖ ❖ ❖

अध्याय 11

इस अध्याय को **'विश्वरूपदर्शन योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 55 श्लोक हैं जिसमें से 12 श्लोकों का चयन किया गया है। अध्याय-10 व 11 के प्रायः सभी श्लोक मूल गीता से पढ़ने योग्य हैं और वे स्वयं स्पष्ट भी हैं। भगवान् ने अपनी जिन विभूतियों का वर्णन पिछले अध्यायों में किया है उनका प्रत्यक्ष दर्शन अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर करा दिया जिससे अर्जुन को विश्वास हो जाता है कि जिस व्यक्ति को वह अभी तक अपना एक बुद्धिमान सखा समझ रहा था वह वास्तव में पूर्ण ब्रह्म है। वह अनेकों प्रकार से स्तुति करता हुआ बार-बार नमस्कार करता है और अपने सखारूप में किये गये व्यवहार के लिये क्षमा-प्रार्थना करता है। भगवान् बताते हैं कि ऐसे रूप का दर्शन अभी तक किसी ने नहीं किया था क्यों कि यह रूप न तो तप से, न वेदों के अध्ययन से, न दान से, न यज्ञ-रूप क्रियाओं से देखा जा सकता है, केवल अनन्य भक्ति के द्वारा ही यह सम्भव हो पाया है।

संजय उवाच —

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ 10॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ 11॥

अनेक, वक्त्र, नयनम्, अनेक, अद्भुतदर्शनम्,
अनेक, दिव्य, आभरणम्, दिव्य, अनेक, उद्यता, युधम्।

दिव्य, माल्य, अम्बर, धरम्, दिव्य, गन्ध, अनुलेपनम्,
सर्व आश्चर्यम्, अयम्, देवम्, अनन्तम्, विश्वतः, मुखम्।

संजय बोले – अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त, अनेक अद्भुत दर्शनोंवाले, बहुत-से दिव्य भूषणोंसे युक्त और बहुत-से दिव्य शस्त्रोंको हाथोंमें उठाये हुए, दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए और दिव्य गन्धका सारे शरीरमें लेप किये हुए, सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त, सीमारहित और सब ओर मुख किये हुए विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा।

Sanjay said : Arjuna saw the supreme Deity possessing many mouths and eyes, presenting many a wonderful sight, decked with many divine ornaments, wielding many uplifted divine weapons, wearing divine garlands and vestments, anointed all over with divine fragrances, full of all wonders, infinite and having faces on all sides.

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ 12॥

दिवि, सूर्यसहस्रस्य, भवेत्, युगपत्, उत्थिता,
यदि, भाः, सदृशी, सा, स्यात्, भासः, तस्य, महात्मनः।

आकाशमें हज़ार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो।

If there be the effulgence of a thousand suns bursting forth all at once in the heavens, even that would hardly approach the splendour of the mighty Lord.2

अर्जुन उवाच —

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ 31 ॥

आख्याहि, मे, कः, भवान्, उग्ररूपः, नमः, अस्तु, ते, देववर, प्रसीद, विज्ञातुम्, इच्छामि, भवन्तम्, आद्यम्, न, हि, प्रजानामि, तव, प्रवृत्तिम्।

अर्जुन ने कहा – मुझे बतलाइये कि आप उग्ररूपवाले कौन हैं? हे देवोंमें श्रेष्ठ! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइये। आदिपुरुष आपको मैं विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता।

Arjuna said : Tell me who You are with a form so terrible? My obeisance to You, O best of gods; be kind to me. I wish to know You, the Primal Being, in particular; for I know not what you intend to do.

2 भगवान् के विराट रूप को विस्तृत रूप से जानने के लिये कृपया गीता अध्याय 11 के श्लोक 10 से 31 तक का अध्ययन करें, जो स्वयं में स्पष्ट हैं।

श्रीभगवानुवाच —

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ 32॥

कालः, अस्मि, लोकक्षयकृत्, प्रवृद्धः, लोकान्, समाहर्तुम्, इह, प्रवृत्तः, ऋते, अपि, त्वाम्, न, भविष्यन्ति, सर्वे, ये, अवस्थिताः, प्रत्यनीकेषु, योधाः।

श्रीभगवान् बोले — मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिये जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित योद्धा लोग हैं, वे सब तेरे बिना भी न रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करनेपर भी इन सबका नाश हो जायेगा।

Śrī Bhagvān said : I am mighty Kāla (the eternal Time spirit), the destroyer of the worlds. I am out to exterminate these people. Even without you all those warriors, arrayed in the enemy's camp, shall die.

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ 33॥

तस्मात्, त्वम्, उत्तिष्ठ, यशः, लभस्व, जित्वा, शत्रून्, भुङ्क्ष्व, राज्यम्, समृद्धम्, मया, एव, एते, निहताः, पूर्वम्, एव, निमित्तमात्रम्, भव, सव्यसाचिन्।

अतएव तू उठ! यश प्राप्त कर और शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग। ये सब शूरवीर पहलेहीसे मेरे द्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन्! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा।

Therefore, you do arise and win glory; conquering foes, enjoy the affluent kingdom. These warriors stand already slain by Me; be you only an instrument. Arjuna.

श्लोक 31 से 33 की व्याख्या —

भगवान् का विराट रूप देखकर अर्जुन अत्यन्त भयभीत होकर काँपता हुआ हाथ जोड़कर बार-बार नमस्कार करता हुआ प्रसन्न करने की चेष्टा करता है और पूछता है कि इतने उग्र रूप वाले आप कौन हैं, मैं आपको विशेष रूप से जानना चाहता हूँ। यद्यपि भगवान् अध्याय 7 व 9 में अपने बारे में सब कुछ बता चुके हैं, फिर भी जिस रूप के दर्शन अब वह प्रत्यक्ष रूप से कर रहा है ऐसा उसने सोचा न था।

इसके उत्तर में भगवान् बताते हैं कि लोकों को नष्ट करने के लिये मैं महाकाल हूँ, क्योंकि पापकर्म करनेवालों के विनाश के लिये ही तो मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ। कितना स्पष्ट निर्णय है। जब-जब पृथ्वी पर पाप बढ़ते हैं, मैं किसी को भी निमित्त बनाकर पापियों का नाश करता हूँ। यहाँ अर्जुन को कह रहे हैं कि सामने खड़े सभी योद्धा पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। तू यह मत समझ कि तेरे मारने से ही मरेंगे। तुझे तो मैंने निमित्त मात्र बनाया है।

यहाँ गहराई से समझने की बात यह है कि जब भी भीषण नरसंहार होता है वह सब सर्वशक्तिमान का विधान ही होता है चाहे वह युद्ध हो, तूफान या चक्रवात के रूप में हो, भूचाल के रूप में या बाढ़ के रूप में, अग्निकाण्ड हो या महामारी। जब पाप सामूहिक रूप में किये जाते है तो उनका फल भी समाज को ही भोगना पड़ता है। यह प्रकृति का साधारण नियम है।

अर्जुन उवाच —

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥ 36॥

स्थाने, हृषीकेश, तव, प्रकीर्त्या, जगत्, प्रहृष्यति, अनुरज्यते, च, रक्षांसि, भीतानि, दिशः, द्रवन्ति, सर्वे, नमस्यन्ति, च, सिद्धसङ्घाः।

अर्जुन ने कहा – हे अन्तर्यामिन्! यह योग्य ही है कि आपके नाम, गुण और प्रभावके कीर्तनसे जगत् अति हर्षित हो रहा है और अनुरागको भी प्राप्त हो रहा है तथा भयभीत राक्षसलोग दिशाओंमें भाग रहे हैं और सब सिद्धगणोंके समुदाय नमस्कार कर रहे हैं।

Arjuna said : Lord, well it is, the universe exults and is filled with love by chanting Your names, virtues and glory; terrified Rākṣasas are fleeing in all directions, and all the hosts of Siddhas are bowing to You.

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ 39॥

वायुः, यमः, अग्निः, वरुणः, शशाङ्कः, प्रजापतिः, त्वम्, प्रपितामहः, च, नमः, नमः, ते, अस्तु, सहस्रकृत्वः, पुनः, च, भूयः, अपि, नमः, नमः, ते।

आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं। आपके लिये हजारों बार नमस्कार! नमस्कार हो!। आपके लिये फिर भी बार-बार नमस्कार! नमस्कार!!।

You are Vāyu (the wind-god), Yama (the god of death), Agni (the god of fire), Varuṇa (the god of water), the moon-god, Brahmā (the Lord of creation), nay, the father of Brahmā himself. Hail, hail to You a thousand times; salutations, repeated salutation to You once again.

श्रीभगवानुवाच —

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ 48॥

न, वेद–यज्ञ–अध्ययनैः, न, दानैः, न, च, क्रियाभिः, न, तपोभिः, उग्रैः, एवंरूपः, शक्यः, अहम्, नृलोके, द्रष्टुम्, त्वत्–अन्येन, कुरुप्रवीर।

श्री भगवान् बोले — हे अर्जुन! मनुष्यलोकमें इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे, न दानसे, न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे अतिरिक्त दूसरेके द्वारा देखा जा सकता हूँ।

Śrī Bhagvān said : Arjuna, in this mortal world I cannot be seen in this Form by anyone other than you, either through the study of the Vedas or by rituals, or, again, through gifts, actions or austere penances.

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ 53॥

न, अहम्, वेदैः, न, तपसा, न, दानेन, न, च, इज्यया, शक्यः, एवंविधः, द्रष्टुम्, दृष्टवान्, असि, माम्, यथा।

जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है – इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ।

Neither by study of the Vedas, nor by penance, nor again by charity, nor even by rituals can I be seen in this form (with four-arms) as you have seen Me.

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ 54॥

भक्त्या, तु, अनन्यया, शक्यः, अहम्, एवंविधः, अर्जुन,
ज्ञातुम्, द्रष्टुम्, च, तत्त्वेन, प्रवेष्टुम्, च, परन्तप।

परन्तु हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।

Through single-minded devotion, however, I can be seen in this form (with four-arms), nay, known in essence and even entered into, O valiant Arjuna.

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ 55॥

मत्कर्मकृत्, मत्परमः, मद्भक्तः, सङ्गवर्जितः,
निर्वैरः, सर्वभूतेषु, यः, सः, माम्, एति, पाण्डव।

हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्त्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।

Arjuna, he who performs all his duties for My sake, depends on Me, is devoted to Me, has no attachment, and is free from malice towards all beings, reaches Me.

व्याख्या – उपरोक्त श्लोकों में हमने देखा कि भगवान् किस प्रकार अपने भक्त की हर इच्छा पूरी करने को तत्पर रहते हैं। मूर्ख व्यक्ति सांसारिक वस्तुएँ माँगकर अपना अमूल्य समय व्यर्थ गवाँ देता है। क्योंकि सांसारिक वस्तुएँ या सुख नश्वर हैं, शरीर के साथ नष्ट

हो जाने वाली हैं। वास्तविकता तो यह है कि यदि भगवान् पर छोड़ें तो बिना माँगे ही वह हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर देता है।

भगवान् पहले ही कह चुके हैं कि मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं तथा मेरी विभूतियाँ असंख्य हैं। इन प्राकृत इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि के द्वारा इस प्रकार मेरे प्रत्यक्ष दर्शन करना सम्भव नहीं है। फिर भी अर्जुन के आग्रह को न टालकर भगवान् ने अपने रूप का दर्शन कराया, तो भी, दिव्य नेत्रों के द्वारा भी, अर्जुन भगवान् का तेज सहन नहीं कर पाया। हज़ारों सूर्य आसमान में एक साथ उदित हो जायें तो कौन सहन कर पाएगा? उस रूप का वर्णन करने में अर्जुन स्वयं को असमर्थ पाता है, इसलिये कह उठता है कि आप स्वयं ही अपने को जान सकते हैं।

उसे विश्वास ही नहीं होता कि यह वही कृष्ण हैं जिन्हें वह अपना सखा या सम्बन्धी अथवा सारथी समझ रहा था। हाँ, इतना वह अवश्य समझता था कि कृष्ण दुनिया के सबसे बुद्धिमान व्यक्ति हैं जिसका मूल्य दुर्योधन को दी जाने वाली एक अक्षौहिणी सेना से अधिक है किन्तु जो रूप उसने अब देखा उसका उसे अनुमान नहीं था। वह घबराकर हाथ जोड़कर घुटनों के बल बैठ कर प्रार्थना करने लगता है कि तुरन्त अपने इस रूप को समेट लें।

उसको तो यह भी समझ में नहीं आता कि भगवान् को किस नाम से पुकारे। कभी वह आदिदेव कहता है तो कभी सनातन पुरुष, जगत के परम आश्रय, जानने वाले, जानने योग्य, परम धाम, अनन्त रूप, अनन्त सामर्थ्य वाले, अनन्त पराक्रमशाली कहता है। कभी अच्युत कहता है तो कभी अनुपम प्रभाव वाले कहता है। कभी देवेश, जगन्निवास कहता है तो कभी विश्वरूप सहस्रबाहो कहता है।

इस रूप के दर्शन के बाद जब वह पुनः सौम्यरूप के दर्शन करता है तब वह सामान्य स्थिति में आता है और इसके बाद अर्जुन का भगवान् के प्रति भाव और भी विनीत हो जाता है जो श्लोक 38, 39 व 40 में अभिव्यक्त है।[3]

❖ ❖ ❖

3 महाभारत में भगवान् वेदव्यास ने वर्णन किया है कि कौरव पाण्डवों के युद्ध में 18 अक्षौहिणी सेना ने युद्ध किया था, जिसमें से 11 अक्षौहिणी सेना कौरवों की ओर से लड़ी थी तथा 7 पाण्डवों की ओर से। अक्षौहिणी सेना का एक परिमाण होता है जिसमें 21870 रथ, 21870 हाथी, 65610 घुड़सवार तथा 1,09,350 पैदल होते हैं – कुल 2,18,700.

अध्याय 12

इस अध्याय को **'भक्ति योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 20 श्लोक हैं जिसमें से 7 श्लोकों का चयन किया गया है। यह अध्याय अर्जुन के प्रश्न से आरम्भ होता है जिसमें भगवान् के विश्वरूप-दर्शन के पश्चात अर्जुन जिज्ञासा करता है कि परमेश्वर की उपासना सगुण साकार रूप में करनी चाहिये या निर्गुण-निराकार रूप में। उत्तर में भगवान् कहते हैं कि मेरी उपासना किसी भी रूप में की जा सकती है किन्तु निराकार रूप में पूजा करने में अधिक परिश्रम करना पड़ता है। अतः सगुण रूप से मेरा ध्यान करते हुए, सब कर्मों को मुझ में अर्पण करके, मन और बुद्धि को मुझ में लगाकर कर्म करता हुआ मेरा स्मरण करते रहना ही श्रेष्ठ है। श्लोक 13 से 20 तक भक्त के लक्षण बताये गये हैं जिससे मनुष्य अपने भक्ति के स्तर का निरीक्षण स्वयं कर सकता है।

श्रीभगवानुवाच —

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ 8॥

मयि, एव, मनः, आधत्स्व, मयि, बुद्धिम्, निवेशय,
निवसिष्यसि, मयि, एव, अतः, ऊर्ध्वम्, न, संशयः।

श्री भगवान् बोले — मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

Śrī Bhagvān said : Therefore, fix your mind on Me, and establish your intellect in Me alone; thereafter you will abide solely in Me. There is no doubt about it.

व्याख्या – भगवान् कहते हैं कि अर्जुन! तू मुझ में ही मन को लगा और मुझ में ही बुद्धि को लगा। केवल इसी से तू मुझ को प्राप्त कर लेगा। मन का काम है सोचना। मन में विचार आते हैं, बुद्धि उन विचारों को ग्रहण करके कार्यान्वित करती है। यदि मन भगवान् के अर्पित होगा तो बुरे विचार आयेंगे ही नहीं। यदि बुद्धि में विवेक जागृत है, वह भगवान् के अर्पित है तो मन के बुरे विचारों को कार्यान्वित नहीं करेगी। मन विचारों को ग्रहण करता है इन्द्रियों के माध्यम से। मनुष्य दिन भर जो आँखों से देखता है या पढ़ता है, कानों से जो कुछ सुनता है, मुँह से जो कुछ बोलता है, जिह्वा से जो रस ग्रहण करता है – इन सब का असर मन पर पड़ता है। यदि मन भगवान् के अर्पित होगा तो ये सभी इन्द्रियाँ भगवद् कार्य करेंगी और बुद्धि भी वही सब ग्रहण करेगी। इसलिये कहा कि केवल मन व बुद्धि ही भगवान् में लगाने से सब कार्य सिद्ध हो जायेंगे।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ 9॥

अथ, चित्तम्, समाधातुम्, न, शक्नोषि, मयि, स्थिरम्, अभ्यासयोगेन, ततः, माम्, इच्छ, आप्तुम्, धनञ्जय।

यदि तू मनको मुझमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन! अभ्यासरूप योगके द्वारा मुझको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर।

If you cannot steadily fix the mind on Me, Arjuna, then seek to attain Me through the Yoga of practice.

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥ 10॥

अभ्यासे, अपि, असमर्थः, असि, मत्कर्मपरमः, भव, मदर्थम्, अपि, कर्माणि, कुर्वन्, सिद्धिम्, अवाप्स्यसि।

यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।

If you are unable even to the pursuit of such practice, be intent to work for Me; you shall attain perfection (in the form of My realization) even by performing actions for My sake.

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु, यतात्मवान्॥ 11॥

अथ, एतत्, अपि, अशक्तः, असि, कर्तुम्, मत्-योगम्-आश्रितः, सर्वकर्मफलत्यागम्, ततः, कुरुः, यतात्मवान्।

यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त साधनको करनेमें भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदिपर विजय प्राप्त करनेवाला होकर सब कर्मोंके फलका त्याग कर।

If, taking recourse to the Yoga of My realization, you are unable even to do this, then, subduing your mind and intellect etc., relinquish the fruit of all actions.

श्लोक 9, 10 व 11 की व्याख्या —

इन श्लोकों में मन को भगवान् में लगाने के उपाय बताये गये हैं। पहला उपाय है अभ्यास अर्थात् भगवान् के नाम और गुणों का श्रवण, कीर्तन, मनन, भगवद् सम्बन्धी शास्त्रों का पठन-पाठन इत्यादि चेष्टायें बारम्बार करना, दूसरा उपाय है भगवान् के लिये कर्म करने के ही परायण होना अर्थात् मन, वाणी और शरीर द्वारा परमेश्वर के लिये ही यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म करना। ये सब कार्य करने में यदि असमर्थ है तो भगवान् श्लोक 11 में कहते हैं कि सब कर्मों के फल का त्याग कर दे। श्लोक 12 में इसका निचोड़ दे दिया।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ 12॥

श्रेयः, हि, ज्ञानम्, अभ्यासात्, ज्ञानात्, ध्यानम्, विशिष्यते, ध्यानात्, कर्मफलत्यागः, त्यागात्, शान्तिः, अनन्तरम्।

मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है; ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।

Knowledge is better than practice without discernment, meditation on God is superior to knowledge, and renunciation of the fruit of actions is even superior to meditation; for peace immediately follows renunciation.

व्याख्या – इस श्लोक में उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर उपाय बताकर अन्त में कह दिया कि सब उपायों से कर्मों के फल का त्याग ही श्रेष्ठ है क्योंकि त्याग से तत्काल ही शान्ति प्राप्त हो जाती है। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य अपने द्वारा किये गये शुभकर्म को भूलता ही नहीं

है और उसके बदले में दूसरों से आशा व अपेक्षा लगाये रहता है जो अशान्ति का कारण होता है। यदि किये गये कर्म का मालिक स्वयं को न समझ कर भगवान् को समझेंगे तो फिर अपेक्षा कैसी? त्याग का अर्थ है भगवान् को अर्पित। 'जो कुछ भी मैं कर पाया हूँ सब भगवान् से प्राप्त साधनों से ही कर पाया हूँ, इसलिये वही मालिक है।'

अब आगे के श्लोकों में भगवान् बताते हैं कि मेरे भक्त को किन लक्षणों से युक्त होना चाहिये।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥ 13॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ 14॥

अद्वेष्टा, सर्वभूतानाम्, मैत्रः, करुणः, एव, च,
निर्ममः, निरहङ्कारः, समदुःखसुखः, क्षमी।

सन्तुष्टः, सततम्, योगी, यतात्मा, दृढनिश्चयः,
मयि-अर्पित-मनः-बुद्धिः, यः, मद्भक्तः, सः, मे, प्रियः।

जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है; तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है - वह मुझमें अर्पण किये हुए मनबुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

He who is free from malice towards all beings, friendly and compassionate, and free from the feelings of 'I' and 'mine', balanced in joy and sorrow, forgiving by nature, ever-contented and mentally united with Me, nay, who has subdued his mind, senses and body, has a firm resolve, and has surrendered his mind and reason to Me – that devotee of Mine is dear to Me.

श्लोक 13 व 14 की व्याख्या —

यहाँ भगवान् बता रहे हैं कि जो पुरुष सब प्राणियों में द्वेष भाव से रहित है – सभी प्राणियों में अर्थात् जो हम से द्वेष करते हों उन में भी, स्वार्थरहित सबका प्रेमी – सच्चा प्रेम तो होता ही स्वार्थ रहित है, जिसके बदले कुछ भी चाहना न हो, प्रेम की भी नहीं, हेतुरहित दयालु – बिना किसी कारण के दयाभाव रखना अर्थात् स्वभाव से ही दयालु; ममता से रहित अर्थात् किसी भी वस्तु या व्यक्ति को अपनी न समझकर भगवान् की समझने वाला; अहंकार से रहित अर्थात् अपने द्वारा कोई कार्य सम्पन्न होने पर भी उसका श्रेय न ले जैसे हनुमान जी ने कह दिया था कि यह जो समुद्र को लाँघा, लंका जलाई, राक्षसों को मारा – यह सब प्रभु के प्रताप से ही हुआ, मेरी इसमें कोई बड़ाई नहीं है; सुख दु:खों की प्राप्ति में सम रहता है अर्थात् सुख की प्राप्ति में ईश्वर का धन्यवाद करता हुआ उसको क्षणिक समझे और दु:ख की प्राप्ति में स्वयं के कर्मों का फल समझ कर विचलित न हो; क्षमावान हो अर्थात् कोई हमारे प्रति अपराध करता जान पड़े तो उसको अज्ञानी समझकर क्षमा करता चले; जो कुछ प्राप्त हो उसी में सन्तुष्ट रहे, दूसरों से बराबरी न करे, मन को वश में रखने वाला है, कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को वश में रखने वाला है, दृढ़ निश्चय वाला है; मन और बुद्धि भगवान् में लगाये रहता है, ऐसा भक्त भगवान् को प्रिय होता है।

इसी प्रकार श्लोक 15 से 19 तक बहुत से गुणों का वर्णन किया गया है जिनके होने से भगवान् स्वत: प्रसन्न हो जाते हैं; कोई अन्य उपाय करने

की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे ही गुणों का वर्णन रामचरित मानस के अरण्यकाण्ड के अन्त में तथा उत्तरकाण्ड के दोहा 46 में भी मिलता है।

वास्तव में श्लोक 13 से 19 तक जो भक्त के लक्षण बताये गये हैं, ये सब लक्षण भगवान् के उस भक्त में स्वतः ही आ जाते हैं जो श्लोक 12 में वर्णित विधि द्वारा अर्थात् सब कर्मों के फल का त्याग करके परम शान्ति को प्राप्त कर चुका है।

❖ ❖ ❖

अध्याय 13

इस अध्याय को **'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 34 श्लोक हैं जिसमें से केवल 3 श्लोकों का ही चयन यहाँ किया गया है। श्लोक संख्या 7 से 11 तक ज्ञान की परिभाषा बताई गई है वह यहाँ नहीं दी जा रही है क्योंकि उनमें बताये गये गुण गीता में अन्यत्र भी उपलब्ध हैं। जिज्ञासु साधक उन्हें मूल गीता से पढ़ सकते हैं। यहाँ मुख्य रूप से यह समझाया गया है कि शरीर क्षेत्र है और जो इसको जानता है (अर्थात् जीवात्मा) क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्र का स्वरूप श्लोक 5 व 6 में बताया गया है जो अध्याय 7 में भी बताया जा चुका है। श्लोक 24 में बताया गया है कि ईश्वर की प्राप्ति ध्यान योग अथवा ज्ञान योग अथवा कर्म योग के द्वारा की जा सकती है। श्लोक 25 में एक सरल मार्ग भी बता दिया गया है कि ज्ञानी पुरुषों से सुनकर भी उपासना की जा सकती है। श्लोक 33 में बताया गया है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र (अर्थात् शरीर) को प्रकाशित करती है।

श्रीभगवानुवाच —

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ 13॥

सर्वतः–पाणि–पादम्, तत्, सर्वतः–अक्षि–शिरः–मुखम्,
सर्वतःश्रुति–मत्, लोके, सर्वम्, आवृत्य, तिष्ठति।

श्रीभगवान् बोले — वह सब ओर हाथ–पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।

Śrī Bhagvān said : It has hands and feet on all sides, eyes, head and mouth in all directions, and ears all-around; for it stands pervading all in the universe.

व्याख्या – श्लोक 13 से 17 तक भगवान् की शक्तियों का, गुणों का वर्णन किया गया है। परमात्मा सर्वव्यापक है, ज्ञान के द्वारा प्राप्त होने योग्य है, सब कुछ जानने व देखने वाला है, सबका धारण करने वाला है, सब प्राणियों के भीतर भी है, बाहर भी है, समीप भी है, दूर भी है, सब का भरण-पोषण करने वाला है, निर्गुण भी है, सगुण भी है, सब ज्योतियों की ज्योति है, माया से ऊपर है, जानने योग्य है, सबके हृदय में स्थित है।

अर्थात् जो कुछ भी हम करते हैं वह भगवान् हर समय हर स्थान पर देखता है। जो कुछ भी हम बोलते हैं वह सब कुछ सुनता है। यहाँ तक कि जो कुछ भी हम सोचते हैं वह भी उसे ज्ञात है। इसीलिये कर्मों का फल देने में उससे कोई चूक नहीं होती। वहाँ कोई तर्क वितर्क नहीं चलता।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी रामचरित मानस में कहा ही है –

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

तथा

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ 22॥

उपद्रष्टा, अनुमन्ता, च, भर्ता, भोक्ता, महेश्वरः, परमात्मा, इति, च, अपि, उक्तः, देहे, अस्मिन्, पुरुषः, परः।

इस देहमें स्थित वह आत्मा वास्तवमें परमात्मा ही है। यह साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मा आदिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा — ऐसा कहा गया है।

The Spirit dwelling in this body, is really the same as the Supreme. He has been spoken of as the Witness, the true Guide, the Sustainer of all, the Experiencer (as the embodied soul), the Overlord and the Absolute as well.

व्याख्या – सबके देह में स्थित होकर सभी इन्द्रियों को कार्य की सामर्थ्य प्रदान करता है। जीव रूप से सुख दुःख को भोगता है, साक्षी रूप में यथार्थ सम्मति भी देता है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ 24॥

ध्यानेन, आत्मनि, पश्यन्ति, केचित, आत्मानम्, आत्मना, अन्ये, साङ्ख्येन, योगेन, कर्मयोगेन, च, अपरे।

उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।

Some by meditation behold the supreme Spirit in the heart with the help of their refined and sharp intellect; others realize it through the discipline of knowledge, and still others, through the discipline of Action, i.e., Karmayoga.

व्याख्या – ईश्वर को प्राप्त करने के तीन योग अथवा मुख्य साधन इस श्लोक में बताये गये हैं – ध्यान योग (अध्याय 6 के श्लोक 11 से 32 तक) ज्ञानयोग (अध्याय 2 के श्लोक 11 से 30 तक) तथा कर्मयोग (अध्याय 2 के श्लोक 40 से 72 तक)। श्लोक 25 में उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त तत्त्वज्ञानी पुरुषों से सुनकर उपासना करना भी एक साधन बतलाया गया है।

❖ ❖ ❖

अध्याय 14

इस अध्याय को **'गुणत्रयविभाग योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 27 श्लोक हैं जिसमें से 9 श्लोकों का चयन किया गया है। पिछले अध्याय में बताया गया था कि यह सृष्टि जड़ और चेतन के संयोग से बनी है। इस अध्याय में बताया गया है कि ये दोनों प्रकृतियाँ – जड़ और चेतन भगवान् से ही उत्पन्न होती हैं और जड़ प्रकृति किस प्रकार तीन गुणों – सत्त्व, रज और तम के माध्यम से जीवात्मा अर्थात् चेतन अंश को शरीर में बाँधती है। अन्त में इस बन्धन से छूटने का उपाय भी भगवान् बताते हैं।

श्रीभगवानुवाच –

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ 3॥

मम, योनिः, महत्, ब्रह्म, तस्मिन्, गर्भम्, दधामि, अहम्, सम्भवः, सर्वभूतानाम्, ततः, भवति, भारत।

श्रीभगवान् बोले – हे अर्जुन! मेरी महत्–ब्रह्मरूप मूल–प्रकृति सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतन–समुदायरूप गर्भको स्थापन करता हूँ। उस जड़–चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

Śrī Bhagvān said : My primordial Nature, known as the great Brahma, is the womb of all creatures; in that womb I place the seed of all life. The creation of all beings follows from that union of Matter and Spirit, O Arjuna.

व्याख्या – भगवान् कहते हैं कि मेरी मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि है और उस योनि में मैं ही चेतन अंश की स्थापना करता हूँ जिससे सब भूतों की उत्पत्ति होती है, अर्थात् विभिन्न योनियों में जितनी मूर्तियाँ हैं उनकी माता प्रकृति है और पिता स्वयं भगवान् हैं।

प्रकृति से उत्पन्न ये तीन गुण – सत्वगुण, रजोगुण व तमोगुण ही जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं। ये गुण न्यूनाधिक मात्रा में हर समय हर व्यक्ति में विद्यमान रहते हैं और इन्हीं से प्रभावित होकर ही मनुष्य अच्छे या बुरे कामों में प्रवृत्त होता है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ 11॥

सर्वद्वारेषु, देहे, अस्मिन्, प्रकाशः, उपजायते,
ज्ञानम्, यदा, तदा, विद्यात्, विवृद्धम्, सत्त्वम्, इति, उत।

जिस समय इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है।

When light and discernment dawn in this body, as well as in the mind and senses, then one should know that Sattva is predominent.

व्याख्या – इस श्लोक में बताया गया है कि जब रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण की वृद्धि होती है उस समय अन्तःकरण और इन्द्रियों में चेतनता और विवेक शक्ति उत्पन्न होती है जिसके कारण मनुष्य सत्कार्यों की ओर प्रेरित होता है, अपने कर्तव्य को भलीभाँति समझने लगता है, सामाजिक व परोपकार के कार्य करने लगता है, सत्य का आचरण करने लगता है, परदोष दर्शन न करके निज दोष दर्शन करने लगता है – आदि।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ 12॥

लोभः, प्रवृत्तिः, आरम्भः, कर्मणाम्, अशमः, स्पृहा, रजसि, एतानि, जायन्ते, विवृद्धे, भरतर्षभ।

हे अर्जुन! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धिसे कर्मोंका सकामभावसे आरम्भ, अशान्ति और विषयभोगोंकी लालसा – ये सब उत्पन्न होते हैं।

With the preponderance of Rajas, Arjuna, greed, activity, undertaking of action with an interested motive, restlessness and a thirst for enjoyment make their appearance.

व्याख्या – जब सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण की वृद्धि होती है उस समय मनुष्य में स्वार्थ की भावना, लोभ, सांसारिक कार्यों में अत्यधिक व्यस्तता, भागदौड़, फल के लिये सब कार्य करना, विषय-भोगों में समय, शक्ति एवं धन को लगाने जैसे कार्य करने लगता है।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ 13॥

अप्रकाशः, अप्रवृत्तिः, च, प्रमादः, मोहः, एव, च, तमसि, एतानि, जायन्ते, विवृद्धे, कुरुनन्दन।

हे अर्जुन! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ – ये सब ही उत्पन्न होते हैं।

With the growth of Tamas, Arjuna, obtuseness of the mind and senses, disinclination to perform one's obligatory duties, frivolity and stupor – all these appear.

व्याख्या – जब सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण की वृद्धि होती है उस समय मनुष्य अत्यधिक निद्रा, अत्यधिक भोजन, आलस्य के वश में होकर कर्तव्य पालन में प्रमाद आदि करने लगता है।

ऊपर के इन तीनों श्लोकों में तीनों गुणों के लक्षण अथवा पहचान बताई गई है।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥ 14॥

यदा, सत्त्वे, प्रवृद्धे, तु, प्रलयम्, याति, देहभृत्,
तदा, उत्तमविदाम्, लोकान्, अमलान्, प्रतिपद्यते।

जब यह मनुष्य सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है।

When a man dies during the preponderance of Sattva, he obtains the stainless ethernal worlds (heaven etc.), attained by men of noble deeds.

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ 15॥

रजसि, प्रलयम्, गत्वा, कर्मसङ्गिषु, जायते,
तथा, प्रलीनः, तमसि, मूढयोनिषु, जायते।

रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होकर कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है; तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ मनुष्य कीट, पशु आदि मूढ़योनियोंमें उत्पन्न होता है।

Dying when Rajas predominates, he is born among those attached to action; even so, the man who has expired during the preponderance of Tamas is reborn in the species of the deluded creatures such as insects and beasts etc.

श्लोक 14 व 15 की व्याख्या —

इन श्लोकों में भगवान् बता रहे हैं कि मृत्यु किसी भी समय आ सकती है और मृत्यु के समय भी मनुष्य में उपर्युक्त तीन गुणों में से किसी एक की प्रधानता होती है। यदि मृत्यु के समय सत्त्वगुण की प्रधानता है तो मरने के बाद जीवात्मा अच्छे लोकों में जन्म लेता है जैसा कि अध्याय 6 और 8 में भी कहा जा चुका है। रजोगुण की वृद्धि में मृत्यु होने पर कर्मों की आसक्ति वाले मनुष्यों के परिवार में जन्म लेता है और तमोगुण की वृद्धि के समय मृत्यु होने से मूढ़योनियों में जन्म लेता है।

उपरोक्त विश्लेषण से हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि जिस प्रबुद्ध व्यक्ति को अगले जन्म में सद्गति प्राप्त करने की अभिलाषा हो उसको प्रयत्नपूर्वक सत्वगुण में स्थित रहना चाहिये।

श्लोक 19-20 में बताया गया है कि जो पुरुष जीवभाव में स्थित हो जाता है वह तीनों गुणों के अतिरिक्त किसी को कर्ता नहीं मानता और तीनों गुणों से परे परमात्मा को तत्त्व से जानकर परमानन्द को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य जन्म, मृत्यु व वृद्धावस्था के दु:खों से पार हो जाता है।

अब तक के श्लोकों में भगवान् ने बताया है कि मनुष्य को तमोगुणी वृत्तियों से तो सदा बचना ही चाहिये, रजोगुण से भी सत्वगुण

की ओर बढ़ने की चेष्टा करते रहना चाहिये। जो सत्वगुण में स्थित हो जाता है वह इस जीवन में तो सुखी रहता ही है, उसके आगामी जन्म भी सुधर जाते हैं। किन्तु भगवान् का निर्देश है कि सत्वगुण में स्थित होने के पश्चात् गुणातीत होने का ध्येय होना चाहिये क्योंकि परमानन्द की प्राप्ति तो गुणातीत होने पर ही होती है।

गुणातीत के लक्षण आगामी श्लोकों में बताये जा रहे हैं। भगवान् को प्राप्त करने के लिये इन गुणों से ऊपर उठना आवश्यक है और उसके लिये स्वयं में ये सब लक्षण विकसित करने होंगे।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ 23॥

उदासीनवत्, आसीनः, गुणैः, यः, न, विचाल्यते,
गुणाः, वर्तन्ते, इति, एव, यः, अवतिष्ठति न, इङ्गते।

जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणोंमें बरतते हैं – ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता।

He who, sitting like a witness, is not disturbed by the Guṇas, and who, knowing that the Guṇas alone move among the Guṇas, remains established in identity with God, and never falls off from that state.

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ 24॥

समदुःखसुखः, स्वस्थः, सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः,
तुल्य-प्रिय-अप्रियः, धीरः, तुल्य-निन्दा-आत्म-संस्तुतिः।

जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है।

He who is ever established in the Self, takes pain and pleasure alike, regards a clod of earth, a stone and a piece of gold as equal in value, is possessed of wisdom, accepts the pleasant as well as the unpleasant in the same spirit, and views censure and praise alike.

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ 25॥

मान-अपमानयोः, तुल्यः, तुल्यः, मित्र-अरि-पक्षयोः, सर्व-आरम्भ-परित्यागी, गुणातीतः, सः, उच्यते।

जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।

He who is equipoised in honour or ignominy, is alike towards a friend or an enemy, and has renounced the sense of doership in all undertakings, is said to have risen above the three Gunas.

इन तीन श्लोकों – 23, 24 व 25 में गुणातीत के लक्षण बताये गये हैं। जिसमें ये लक्षण दृष्टि गोचर होते हैं उनको गुणातीत कह सकते हैं।

अध्याय 14 में ज्ञानयोग व भक्ति योग – दोनों का महत्त्व बताया गया है। श्लोक 2 में कहा गया है कि इस ज्ञान को आश्रय करके मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

और श्लोक 26 में बताया गया है कि जो भक्तियोग का आश्रय लेकर निरन्तर भगवान् को भजता है वह भी ब्रह्म को प्राप्त करने के योग्य बन जाता है।

❖ ❖ ❖

अध्याय 15

इस अध्याय को **'पुरुषोत्तम योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 20 श्लोक हैं जिसमें से 8 श्लोकों का चयन किया गया है। पुरुषोत्तम योग का औचित्य अध्याय के अन्त में बताया गया है। यह अध्याय मुख्यत: ज्ञानमार्गियों के लिये है।

इसके पहले श्लोक में संसार को अविनाशी पीपल का वृक्ष कहा गया है जिसका मूल आदि-पुरुष परमेश्वर है, इसलिये कहा है इसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं। नीचे की ओर मुख्य शाखा ब्रह्मा के रूप में तथा पत्ते वेदों के रूप में कहे गये हैं। विभिन्न योनियाँ इसकी शाखायें कही गई हैं। विषय भोग कोपलें हैं जो सर्वत्र फैली हुई हैं। कर्मों के अनुसार बाँधने वाली अहंता अर्थात् मैं और ममता अर्थात् मेरेपन की भावना और वासना रूपी जड़ें भी नीचे-ऊपर सभी लोकों में व्याप्त हो रही हैं। या यूँ कहा जाये कि मैं और मेरेपन की भावना तथा सांसारिक भोगों की इच्छा या वासना – इन दोनों के कारण मानव संसार में बँधा हुआ है। सन्त तुलसी ने भी मानस में लिखा है –

मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया॥

इन दोनों को काटने का शस्त्र है वैराग्य जो अध्याय 6 के श्लोक 35 में भी बताया गया है। वैराग्य भावना को विकसित करने के लिये भोगों में असारता का अनुभव करना तथा भगवान् की शरण होने की आवश्यकता है। इसलिये श्लोक 4 में कहा गया है कि उस परमपद की खोज करनी चाहिये जिसमें जाकर फिर लौटना नहीं होता।

श्रीभगवानुवाच —

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ 5॥

निः-मान-मोहाः, जित-सङ्ग-दोषाः, अध्यात्म-नित्याः, विनिवृत्त-कामाः, द्वन्द्वैः, विमुक्तः, सुख-दुःख-सञ्ज्ञैः, गच्छन्ति, अमूढाः, पदम्, अव्ययम्, तत्।

श्रीभगवान् बोले — जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं - वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं।

Śrī Bhagvān said : They who are free from pride and delusion, who have conquered the evil of attachment, and are constantly abiding in God, whose cravings have altogether ceased and who are completely immune to all pairs of opposites going by the names of pleasure and pain, and are undeluded, attain that supreme immortal state.

व्याख्या – इस श्लोक में बताया गया है कि उस अविनाशी परमपद को वही प्राप्त कर सकता है जिसका मान और मोह नष्ट हो गया है। मान अर्थात् क्षेष्ठता का अभिमान – ज्ञान की श्रेष्ठता, धन की श्रेष्ठता, प्रसिद्धि की श्रेष्ठता, जाति-पाँति की श्रेष्ठता, शरीर की सुन्दरता की श्रेष्ठता, बल की श्रेष्ठता – इन सब को छोड़ना होता है। जिनकी किसी भी व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति में आसक्ति नहीं है, कामनाओं

से पूर्णतः रहित है अर्थात् अस्वस्थ हो तो स्वास्थ्य की कामना भी नहीं है, निर्धन होने पर भी धन की कामना नहीं है – आदि। परमात्मा के अतिरिक्त और कहीं ध्यान ही नहीं जाता, सुख-दुःख में कोई अन्तर नहीं समझता – ऐसे व्यक्ति परमपद को प्राप्त कर सकते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥6॥

न, तत्, भासयते, सूर्यः, न, शशाङ्कः, न, पावकः,
यत्, गत्वा, न, निवर्तन्ते, तत्, धाम, परमम्, मम।

जिस परमपदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते, उस स्वयंप्रकाश परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही; वही मेरा परमधाम है।

Neither the sun nor the moon nor fire can illumine that supreme self-effulgent state, attaining which they never return to this world; that is My supreme abode.

व्याख्या – भगवान् के परमपद की एक झलक दिखाई गई है। वहाँ इतना प्रकाश है कि सूर्य चन्द्रमा या अग्नि का प्रकाश उसके सामने ऐसे हैं जैसे सूर्य के सामने दीपक, जिसका दर्शन भगवान् ने गीता के अध्याय 11 में अर्जुन को कराया है। यही वह धाम है जहाँ पहुँच कर जीव वापस संसार में नहीं आता है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥7॥

मम, एव, अंशः, जीवलोके, जीवभूतः, सनातनः,
मनःषष्ठानि, इन्द्रियाणि, प्रकृतिस्थानि, कर्षति।

इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है और वही इन प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंका आकर्षण करता है।

The eternal Jīvātmā in this body is a fragment of My own self; and it is that alone which draws around itself the mind and the five senses, which abide in Prakṛti.

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ 8॥

शरीरम्, यत्, अवाप्नोति, यत्, च, अपि, उत्क्रामति, ईश्वरः, गृहीत्वा, एतानि, संयाति, वायुः, गन्धान्, इव, आशयात्।

वायु गन्धके स्थानसे गन्धको जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरका त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है – उसमें जाता है।

Even as the wind wafts scents from their seat, so, too, the Jīvātmā, which is the controller of the body etc., taking the mind and the senses from the body which it leaves behind, forthwith migrates to the body which it acquires.

श्लोक 7 व 8 की व्याख्या —

अध्याय 7 के श्लोक 5 व 6 में बताया जा चुका है कि भगवान् की दो प्रकृतियाँ हैं – जड़ व चेतन। इन्हीं के संयोग से सृष्टि के सारे जीवों की उत्पत्ति होती है। यहाँ समझा रहे हैं कि शरीर में जीवात्मा परमात्मा का अंश है किन्तु वह अज्ञानवश स्वयं को इन्द्रियाँ समझता है, उनसे एकाकार हो जाता है, उनको दास न समझकर उनका दास बन जाता है और मृत्युपर्यन्त उन में इतना आसक्त रहता है कि मृत्यु

के समय जब जीवात्मा इस जड़ शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है तो इन्द्रिय भोग की वासना उसके साथ चली जाती है जिससे उसका अगला जन्म प्रभावित होता है और इन्हीं ज्ञानेन्द्रियों – कान, आँख, त्वचा, रसना, प्राण तथा मन के सहारे से ही विषयों का सेवन करता है। वायु का उदाहरण इसलिये दिया क्योंकि जैसे वायु आकाश में रहता है, आकाश का अंश है, फिर भी गन्ध को वहन करता है जिससे उसका सम्बन्ध नहीं है, कुछ देर में ही अलग होने वाली वस्तु है उसी प्रकार जीवात्मा का सम्बन्ध परमेश्वर से नित्य है, उसको भुलाकर वह इन्द्रिय सुख से जुड़ जाता है जो अनित्य है। इस वास्तविकता को यत्न करते हुए योगीजन ही जान पाते हैं लेकिन जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है ऐसे अज्ञानीजन यत्न करते रहने पर भी आत्मा को नहीं जान पाते।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ 12॥

यत्, आदित्यगतम्, तेजः, जगत्, भासयते, अखिलम्, यत्, चन्द्रमसि, यत्, च, अग्नौ, तत्, तेजः, विद्धि, मामकम्।

सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है – उसको तू मेरा ही तेज जान।

The radiance in the sun that illumines the entire world, and that which shines in the moon and that which shines in the fire too, know that radiance to be mine.

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ 13॥

गाम्, आविश्य, च, भूतानि, धारयामि, अहम्, ओजसा, पुष्णामि, च, ओषधीः, सर्वाः, सोमः, भूत्वा, रसात्मकः।

और मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण ओषधियोंको अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ।

And permeating the soil, it is I who support all creatures by My vital energy, and becoming the sapful moon, I nourish all plants.

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ 14॥

अहम्, वैश्वानरः, भूत्वा, प्राणिनाम्, देहम्, आश्रितः, प्राण–अपान–समायुक्तः, पचामि, अन्नम्, चतुर्विधम्।

मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित रहनेवाला प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ।

Taking the form of fire, as Vaiśvānara, lodged in the body of all creatures and united with the Prāṇa (exhalation) and Apāna (inhalation) breaths, it is I who digest and assimilate the four kinds of food.

श्लोक 12, 13 व 14 की व्याख्या —

इन श्लोकों में भगवान् अपना स्वरूप बतलाते हैं कि सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि आदि जो देव हैं वे मेरी ही शक्ति से अपना कार्य करते हैं, यहाँ तक कि प्राणियों के शरीर में भोजन पचाने का कार्य भी मैं ही करता हूँ। मैं ही सब प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ, मुझ से ही

स्मृति (स्मरणशक्ति) ज्ञान और ज्ञान का अपोहन होता है। वेदों में जानने योग्य भी मैं हूँ और वेदों को सम्पूर्णता से जानने वाला भी मैं ही हूँ अर्थात् वेदव्यास भी मैं ही हूँ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ 18॥

यस्मात्, क्षरम्, अतीतः, अहम्, अक्षरात्, अपि, च, उत्तमः, अतः, अस्मि, लोके, वेदे, च, प्रथितः, पुरुषोत्तमः।

क्योंकि मैं नाशवान् जड़वर्ग–क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।

Since I am wholly beyond the perishable world of matter or Kṣetra and am superior even to the imperishable soul, Jīvātmā, hence I am known as the Puruṣottama, the Supreme Self, in the world as well as in the Vedas.

व्याख्या – यह जड़ और चेतन जो दो प्रकार की प्रकृति है – इन दोनों का मालिक भगवान् है, उसी से इनकी उत्पत्ति हुई है, इसलिये वह स्वयं इन दोनों से अलग है, श्रेष्ठ है जो पुरुषोत्तम नाम से जाना जाता है। इसीलिये इस अध्याय को पुरुषोत्तम योग कहा गया है।

❖ ❖ ❖

अध्याय 16

इस अध्याय को **'देवासुरसम्पद्विभाग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 24 श्लोक हैं जिसमें से 8 श्लोकों का चयन किया गया है। प्रथम तीन श्लोकों में दैवी सम्पदा के 26 लक्षण बताये गये हैं। उन लक्षणों में से अधिक से अधिक लक्षणों को धारण करने की चेष्टा करनी चाहिये। श्लोक 4 में आसुरी सम्पदा के मुख्य 6 लक्षण बताये गये हैं जिनका विस्तार आगे के श्लोकों में किया गया है। हमें आत्म निरीक्षण करके उन लक्षणों से स्वयं को बचाते रहना चाहिये। अध्याय के अन्त में काम, क्रोध, लोभ, अहंकार और परनिन्दा से दूर रहकर शास्त्रों में वर्णित शुभ कर्म करने का निर्देश दिया है।

श्रीभगवानुवाच —

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ 1॥

अभयम्, सत्त्वसंशुद्धिः, ज्ञान-योग-व्यवस्थितिः,
दानम्, दमः, च, यज्ञः, च, स्वाध्यायः, तपः, आर्जवम्।

श्रीभगवान् बोले - भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता।

Śrī Bhagvān said : Absolute fearlessness, perfect purity of mind, constant fixity in the Yoga of meditation for the sake of Self-realization, and even so, charity in its Sāttvika form, control of the senses, worship of God and other deities as well as of one's elders including the performance of Agnihotra (pouring oblations into the sacred fire) and other sacred duties, study and teaching of Vedas and other sacred books as well as the chanting of God's names and glories, suffering hardships for the discharge of one's sacred obligations and uprightness of mind as well as of the body and senses.

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ 2॥

अहिंसा, सत्यम्, अक्रोधः, त्यागः, शान्तिः, अपैशुनम्, दया, भूतेषु, अलोलुप्त्वम्, मार्दवम्, ह्रीः, अचापलम्।

मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चंचलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव।

Non-violence in thought, word and deed, truthfulness and geniality of speech, absence of anger even on provocation, disclaiming doership in respect of actions, quietude or composure of mind, abstaining from slander, compassion towards all creatures, absence of attachment to the objects of

senses even during their contact with the senses, mildness, a sense of shame in transgressing the scriptures or social conventions, and abstaining from frivolous pursuits;

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥3॥

तेजः, क्षमा, धृतिः, शौचम्, अद्रोहः, न–अति–मानिता,
भवन्ति, सम्पदम्, दैवीम्, अभिजातस्य, भारत।

तेज, क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव – ये सब तो हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।

Sublimity, forgiveness, fortitude, external purity, bearing enmity to none and absence of self-esteem – these are, O Arjuna, the marks of him, who is born with the divine endowments.

श्लोक 1, 2 व 3 की व्याख्या —

इन श्लोकों में दैवी स्वभाव के मनुष्यों के लक्षण बताये गये हैं। भक्तों के, ज्ञानियों के, गुणातीत के, साधुओं–सन्तों के तथा सात्त्विक पुरुषों के लक्षण भी लगभग ऐसे ही होते हैं।

1. **भय का अभाव –** ऐसे मनुष्य संसार में निर्भय होकर विचरते हैं क्योंकि एक तो वे जानते हैं कि आत्मा अमर है, कोई उनको मार नहीं सकता, दूसरे वे जानते हैं कि सबको अपने कर्मों का फल भोगना होता है, इसलिये दुष्कर्मों से बचकर रहते हैं। उनका विश्वास इस उक्ति में होता है कि उचित कर्म करो और किसी से न डरो – Do the right and fear none. इसके अतिरिक्त

जो पूर्णतः भगवान् के आश्रित होते हें वे भी भयरहित हो जाते हैं।

2. **अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता** – ऐसे व्यक्ति के मन में किसी के प्रति वैर-भाव नहीं पनपता, अन्दर की भावना सबका हित करने की होती है।

3. **तत्त्व ज्ञान के लिये ध्यान में स्थिति** – ईश्वर का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये ही चेष्टा करते हैं, सदा वही ध्यान रहता है, सांसारिक ज्ञान के प्रति प्रायः उदासीन रहते हैं। उनका लक्ष्य ईश्वर को प्राप्त करना ही होता है।

4. **सात्विक दान** – दान भी करते हैं तो जिस समय जिस व्यक्ति को जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसी के अनुसार दान करते हैं, बदले में किसी भी चीज़ की कामना नहीं रखते, यहाँ तक कि लेने वाले से कृतज्ञता की अपेक्षा भी नहीं करते। जहाँ तक हो सके गुप्त दान ही करते हैं।

5. **इन्द्रियों का दमन** – इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण रखते हैं, उनके बहकावे में आकर भोग-विलास की ओर आकर्षित नहीं होते, अच्छे-बुरे का विचार करके ही कार्य करते हैं।

6. **यज्ञ** – यज्ञ शब्द का अर्थ आहुति देना होता है, परन्तु गीता की दृष्टि से वर्ण व आश्रम तथा परिस्थिति को ध्यान में रखकर अपने कर्तव्य का पालन करने को भी यज्ञ माना गया है बशर्ते कि उसमें कर्तापन का अहंकार न हो और फल की इच्छा न हो। इस यज्ञ में कर्मों की आहुति दी जाती है अर्थात् सभी कर्म भगवान् को समर्पित कर दिये जाते हैं।

7. **स्वाध्याय** – साधक को अपनी वृत्तियों को शुद्ध करने के लिये स्वाध्याय करते ही रहना चाहिये। स्वाध्याय का अर्थ है भगवत्

सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन जैसे भागवत, गीता, रामायण, भक्तों के चरित्र आदि का पढ़ना अथवा बार-बार सुनना, सुनाना जिससे मन पर चढ़ता हुआ मैल धुलता रहता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जैसा साहित्य हम पढ़ते या सुनते हैं वैसा ही प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है।

8. **तप** – स्वधर्म पालन के लिये कष्ट सहने को यहाँ तप कहा गया है न कि घर-बार छोड़कर वन में जाने को। अपने धर्म अथवा कर्तव्य का पालन करने में बड़े-बड़े शारीरिक एवं मानसिक कष्ट झेलने पड़ते हैं जैसे अर्जुन को स्वधर्म पालन के लिये भगवान् गुरुजनों व स्वजनों से युद्ध करने के मानसिक कष्ट को झेलने के लिये कह रहे हैं।

9. **आर्जवम्** – आर्जवम् अर्थात् सरलता का अर्थ है मन की पूर्ण निर्मलता। जैसा मन के अन्दर भाव है वैसा ही बाहर से व्यवहार में दिखना अर्थात् दम्भ का सम्पूर्ण अभाव। कोई औपचारिकता नहीं।

10. **अहिंसा** – कोई भी ऐसा कार्य करने से परहेज करना जिससे दूसरे व्यक्ति को तनिक सा भी कष्ट पहुँचने का अन्देशा हो चाहे वह कार्य शरीर द्वारा हो अथवा वाणी द्वारा। यहाँ तक कि मन से भी किसी को कष्ट देने की बात सोचना भी हिंसा की श्रेणी में आता है।

11. **सत्य** – अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया हो, वैसे का वैसा ही प्रिय शब्दों में कहने का नाम सत्यभाषण है। भाषण ही नहीं, व्यवहार भी वही होना चाहिये जो हमारे मन में है।

12. **क्रोध** – अपना अपकार करनेवाले पर भी क्रोध का न होना। यहाँ क्रोध न होने का अर्थ क्रोध को प्रकट करने से रोकना मात्र

नहीं है बल्कि मन में क्रोध की भावना ही न उत्पन्न होने देना है।

13. **त्याग** – त्याग का अर्थ यह नहीं है कि जो कुछ अपने पास है उस सबको त्याग दो। भगवान् कहना चाहते हैं कि कर्तापन के अभिमान का त्याग करना है। सब वस्तुओं को भगवान् की समझ कर भोग करना ही त्याग है। संसार की समस्त वस्तुएँ व शक्ति भगवान् की हैं, हमें कुछ समय के लिये भोग करने को मिली हैं, यह सोचकर उनका केवल सदुपयोग करना त्याग कहलाता है।

14. **शान्ति** – चित्त की चंचलता का अभाव अर्थात् जिस राह पर हम चल पड़ते हैं उसको संसार के भोगों से आकर्षित होकर न छोड़ देना।

15. **अपैशुनम्** – किसी की भी निन्दा न करना, परदोषदर्शन न करना। दोष नज़र आयें तो पहले अपनी ओर देखो – क्या हम पूर्णतः दोषरहित हैं। दोष तो सभी में होते हैं। दोषरहित तो केवल भगवान् ही हैं – ऐसा भाव रखें।

16. **भूतेषु दया** – सब प्राणियों में दयाभाव रखना। कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से ग़लती भी कर रहा हो तो उस पर दया-भाव रखो कि वह किसी गलत सोच का शिकार है अथवा संस्कार व परिस्थितियों के अधीन है। इसलिये क्रोध का पात्र न होकर दया का पात्र है।

17. **अलोलुप्त्वम्** – लोलुपता होती है किसी वस्तु की आवश्यकता न होने पर भी उसे पाने या भोगने की इच्छा, उसको पाने की सुलभता को देखकर आकर्षित होना। हमें किसी वस्तु विशेष की आवश्यकता भी नहीं है और प्राप्त करने की इच्छा भी नहीं है किन्तु जब देखते हैं कि यह वस्तु या भोग तो सहज प्राप्तव्य है

तो क्यों न इसे भोग लिया जाय। इस प्रकार की प्रेरणा से बचने का नाम अलोलुपता है।

18. **मार्दवम् अर्थात् कोमलता** – इसको कठोरता के विपरीत भाव में समझा जा सकता है। किसी को दंड भी देना हो तो केवल शिक्षा देने के उद्देश्य से हो।

19. **ह्रीः** - का अर्थ है लज्जा। इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी को अपना मुँह न दिखाओ। इसका अर्थ है शास्त्र-विरोधी, नीति विरोधी अथवा समाज-विरोधी कार्यों के करने में लज्जा। अपनी मान-प्रतिष्ठा आदि करवाने में संकोच।

20. **अचापलम्** – अचपलता का अर्थ है धैर्यपूर्वक कार्य को करना, जल्दबाज़ी में काम खराब न करना। दूसरा अर्थ है कर्तव्य-कर्म के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य न करना।

21. **तेजः** – श्रेष्ठ पुरुषों की उस शक्ति का नाम तेज है कि जिसके प्रभाव से उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायपूर्ण आचरण को छोड़कर उनके श्रेष्ठ आचरणों में प्रवृत्त हो जाते हैं। अतः श्रेष्ठ आचरण करके अपने में तेज को स्थापित करो।

22. **क्षमा** – बिना कारण अपराध करनेवाले को दण्ड देने की सामर्थ्य रहते हुए भी उसके अपराध को सह लेना और उसको माफ कर देना क्षमा कहलाता है।

23. **धृति** – किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति में विचलित न होकर अपनी स्थिति में कायम रहने की शक्ति का नाम धृति या धैर्य है।

24. **शौचम्** – स्नानादि से बाहर की शुद्धि एवं राग-द्वेषादि से रहित होकर अन्तःकरण की शुद्धि करना – इसी का नाम शौच है।

किसी के प्रति घृणा आदि के भाव को दूर रखकर साधक शौच का पालन करता है।

25. **अद्रोह** – क्रोध का जो भाव भीतर बैठ जाता है और मौका मिलने पर अनिष्ट करने की जो भावना है उसे द्रोह कहते हैं। इस भाव को न पनपने देना अद्रोह कहलाता है।

26. **नातिमानिता** – धन, विद्या, गुण, बुद्धि, योग्यता, अधिकार, पद, वर्ण, आश्रम, जाति, वर्ण, बल आदि के आधार पर जो स्वयं में दूसरों से श्रेष्ठ होने का भाव होता है उसे अतिमानिता कहा जाता है। इस भाव के न होने को नातिमानिता कहा जाता है।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ 4॥

दम्भः, दर्प, अभिमानः, च, क्रोधः, पारुष्यम्, एव, च, अज्ञानम्, च, अभिजातस्य, पार्थ, सम्पदम्, आसुरीम्।

हे पार्थ! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी – ये सब आसुरी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं।

Hypocrisy, arrogance, pride and anger, sternness and ignorance too – these are the marks of him, who is born with demoniac properties.

व्याख्या – दम्भ, घमण्ड अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान – ये छः लक्षण आसुरी सम्पदा के हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से लक्षण आगे के श्लोकों में वर्णन किये गये हैं किन्तु ये छः मुख्य हैं।

दम्भ का अर्थ है स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये जो गुण अपने में नहीं हैं उनके होने का अभिनय करना। ऐसे व्यक्तियों की पोल एक

न एक दिन तो खुल ही जाती है। दर्प अर्थात् घमण्ड बाहरी चीज़ों के कारण होता है जैसे धन, जायदाद, परिवार आदि के कारण। अपने में बड़प्पन का अनुभव और विद्या, बुद्धि आदि भीतरी चीज़ों को लेकर अपने में जो बड़प्पन दीखता है वह अभिमान है।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥5॥

दैवी, सम्पत्, विमोक्षाय, निबन्धाय, आसुरी, मता,
मा, शुचः, सम्पदम्, दैवीम्, अभिजातः, असि, पाण्डव।

दैवी सम्पदा मुक्तिके लिये और आसुरी सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी है। इसलिये हे अर्जुन! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है।

The divine endowment has been recognized as conducive to liberation, and the demoniac one as leading to bondage. Grieve not, Arjuna, for you are born with the divine propensities.

व्याख्या – दैवी सम्पदा तो संसार से मुक्ति पाने में सहायक होती है और आसुरी सम्पदा संसार में बाँधने में। जो लोग संसार से मुक्त होना चाहते हैं वे स्वयं में दैवी सम्पदा के लक्षणों को विकसित करें। इसी श्लोक में भगवान् अर्जुन को आश्वासन देते हुए कहते हैं कि तुझे इस विषय में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि तू दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुआ है। भगवान् देख ही चुके थे कि अर्जुन किस प्रकार स्वजनों के सुख के लिये राज्य-सुख को त्यागकर भिक्षा के अन्न से निर्वाह करने को तैयार था।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥6॥

द्वौ, भूतसर्गौ, लोके, अस्मिन्, दैवः, आसुरः, एव, च,
दैवः, विस्तरशः, प्रोक्तः, आसुरम्, पार्थ, मे, शृणु।

हे अर्जुन! इस लोकमें भूतोंकी सृष्टि यानी मनुष्यसमुदाय दो ही प्रकारका है, एक तो दैवी प्रकृतिवाला और दूसरा आसुरी प्रकृतिवाला। उनमेंसे दैवी प्रकृतिवाला तो विस्तारपूर्वक कहा गया, अब तू आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यसमुदायको भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन।

There are only two types of men in this world, Arjuna, the one possessing a divine nature and the other possessing a demoniac disposition. Of these, the type possessing divine nature has been dealt with a length; now hear in detail from Me about the type possesing demoniac disposition.

व्याख्या – यहाँ भगवान् कह रहे हैं कि संसार में दो ही प्रकार के मनुष्य होते हैं – या तो दैवी प्रकृति वाले या आसुरी प्रकृति वाले। दैवी प्रकृति के लक्षणों का वर्णन तो कर ही चुके हैं, अब आगे के श्लोकों में आसुरी प्रकृति के लक्षणों का वर्णन विस्तार से करेंगे। इन लक्षणों को विस्तार से जानना इसलिये आवश्यक है कि ये न जाने कब और कहाँ हमारी वृत्तियों में गुप्त रूप से प्रविष्ट कर जाते हैं और हमें अधोगति की ओर धकेल देते हैं, अतः इनको जानकर ही इनसे सावधान रहा जा सकता है। श्लोक 7 से 18 में वर्णित इन लक्षणों को निम्न प्रकार से सूची-बद्ध किया जा सकता है –

1. आसुर स्वभाव वाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते और न ही जानने की आवश्यकता समझते हैं। कौन सा कार्य करणीय है और कौन सा त्याज्य है इस बात से अनजान रहते हुए जो कर रहे हैं उसे ही सही समझते हैं।

2. ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते तथा जगत की उत्पत्ति का कारण स्त्री पुरुष के सहवास को ही समझते हैं। ऐसे व्यक्ति जगत का नाश करने के लिये ही जन्म लेते हैं।

3. असंख्य, कभी पूर्ण न होने वाली कामनाओं को पूर्ण करने के लिये भ्रष्ट आचरण में लगे रहते हैं।

4. विषय-भोगों में तत्पर रहते हुए, इनकी सामग्री जुटाने में ही चिन्ता ग्रस्त रहते हैं।

5. काम-क्रोध आदि के वश में होकर अन्यायपूर्वक धनादि जुटाने में ही सारा जीवन लगा देते हैं।

6. अपने प्राप्त ऐश्वर्य को पाकर फूले नहीं समाते। जो ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है उसका श्रेय भी स्वयं को देकर भविष्य में और प्राप्ति की योजना बनाते रहते हैं।

7. दूसरों की निन्दा और द्वेष करते रहते हैं, निन्दा सुनने में रस लेते हैं। यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार सभी भूतों में वास करने वाले भगवान् का ही अपमान कर रहे हैं। ऐसे लोग बार-बार आसुरी योनियों में जन्म लेते रहते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ 21॥

त्रिविधम्, नरकस्य, इदम्, द्वारम्, नाशनम्, आत्मनः, कामः, क्रोधः, तथा, लोभः, तस्मात्, एतत्, त्रयम्, त्यजेत्।

काम, क्रोध तथा लोभ – ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।

Desire, anger and greed – these triple gates of hell, bring about the downfall of the soul. Therefore, one should shun all these three.

व्याख्या – काम, क्रोध और लोभ को ही सब अनर्थों का मूल बताया गया है यद्यपि ये षट्विकार हैं जिनमें मद, मोह और मत्सर अर्थात् ईर्ष्या भी शामिल हैं।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ 24॥

तस्मात्, शास्त्रम्, प्रमाणम्, ते, कार्य–अकार्य–व्यवस्थितौ, ज्ञात्वा, शास्त्र–विधान–उक्तम्, कर्म, कर्तुम्, इह, अर्हसि।

इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है।

Therefore, the scripture alone is your guide in determining what should be done and what should not be done. Knowing this, you ought to perform only such action as is ordained by the scriptures.

व्याख्या – कभी कर्तव्य अकर्तव्य में भ्रान्ति हो तो शास्त्रों का ही सहारा लेना चाहिये। शास्त्र अर्थात् गीता रामायण आदि प्रामाणिक ग्रन्थ।

❖ ❖ ❖

अध्याय 17

इस अध्याय को **'श्रद्धात्रयविभाग योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 28 श्लोक हैं जिसमें से 8 श्लोकों का चयन किया गया है। पिछले अध्याय के अन्त में भगवान् ने कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में शास्त्रों को ही प्रमाण बताते हुए कहा था कि जो पुरुष शास्त्र-विधि को त्यागकर मनमाना आचरण करते हैं वे न सिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं न परम गति को और न सुख को। अब इस अध्याय का आरम्भ अर्जुन के इस प्रश्न से होता है कि क्या शास्त्रविधि को त्यागकर किन्तु श्रद्धा से युक्त होकर कोई कार्य करने का कोई लाभ नहीं होता?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि शास्त्रविधि से रहित देवादि का पूजन अथवा घोर तप वे लोग करते हैं जो दम्भ और अहंकार से युक्त हैं तथा कामना और आसक्ति के वश में हैं (श्लोक 5)। ऐसे मनुष्य मन:कल्पित घोर तप करके शरीर में स्थित पंच भूतों व अन्त:करण में स्थित परमात्मा को भी कृश करने वाले हैं, अज्ञानी हैं, आसुरी स्वभाव वाले हैं।

जहाँ तक श्रद्धा का सवाल है तो यह जान लो कि श्रद्धा तीन प्रकार की होती है जो सब मनुष्यों के अन्त:करण के अनुरूप होती है (श्लोक 2 व 3)। सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसों को तथा तामस पुरुष प्रेत और भूतगणों को (श्लोक 4)।

सात्त्विक अन्त:करण वाले मनुष्यों का भोजन भी सात्त्विक होता है, यज्ञ, दान, तप, ज्ञान, कर्म, बुद्धि, सुख आदि सभी सात्त्विक होते हैं, राजसिक अन्त:करण वालों के राजसिक तथा तामसिक अन्त:करण वालों के तामसिक। इनका वर्णन अध्याय 18 में मिलता है।

श्रीभगवानुवाच —

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ 4॥

यजन्ते, सात्त्विकाः, देवान्, यक्ष-रक्षांसि, राजसाः,
प्रेतान्, भूतगणान्, च, अन्ये, यजन्ते, तामसाः, जनाः।

श्रीभगवान् बोले — सात्त्विक पुरुष देवोंको पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंको तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं।

Śrī Bhagvān said : Men of Sātvika disposition worship gods; those of Rājasika temperament worship demigods, the demons; while others, who are of Tāmasika disposition, worship the spirits of the dead and ghosts.

व्याख्या – श्लोक 3 में भगवान् कहते हैं कि सभी मनुष्य श्रद्धामय होते हैं किन्तु उनकी श्रद्धा उनके स्वभाव के अनुसार सत्त्वगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी होती है।

उक्त श्लोक में बताई गई तीनों प्रकार की श्रद्धा वाले लोगों की पहचान इस श्लोक में बताई गई है। अगले दो श्लोकों में भगवान् ने बताया है कि जो लोग अनावश्यक रूप से शरीर को कष्ट या क्लेश देते हैं जो शास्त्रों द्वारा अनुमोदित नहीं है, वे आसुरी सम्पदा वाले होते हैं क्योंकि वे शरीर में स्थित परमात्मा के अंशस्वरूप जीवात्मा को तथा प्रकृति के पाँच भूतों को कृश करते हैं। गीता में भगवान् किसी भी ऐसे कार्य को करने का परामर्श नहीं देते हैं जो अधिक कष्टसाध्य हो।

आगे के श्लोकों में बताया गया है कि अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार सब मनुष्यों को भोजन भी तीन प्रकार का प्रिय होता है, वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ 8 ॥

आयुःसत्त्व–बल–आरोग्य–सुख–प्रीति–विवर्धनाः,
रस्याः, स्निग्धाः, स्थिराः, हृद्याः, आहाराः, सात्त्विकप्रियाः ।

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय – ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।

Foods which promote longevity, intelligence, vigour, health, happiness and cheerfulness, and which are juicy, succulent, substantial and naturally agreeable, are liked by men of Sāttvika nature.

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ 9 ॥

कटु–अम्ल–लवण–अति–उष्ण–तीक्ष्ण–रूक्ष–विदाहिनः,
आहाराः, राजसस्य, इष्टाः, दुःख–शोक–आमय–प्रदाः ।

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं।

Foods which are bitter, sour, salty, overhot, pungent, dry and burning, and which cause suffering, grief and sickness, are dear to the Rājasika.

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ 10॥

यात–यामम्, गतरसम्, पूति, पर्युषितम्, च, यत्,
उच्छिष्टम्, अपि, च, अमेध्यम्, भोजनम्, तामसप्रियम्।

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।

Food which is ill-cooked or not fully ripe, insipid, putrid, stale and polluted, and which is impure too, is dear to men of Tāmasika disposition.

श्लोक 8, 9 व 10 की व्याख्या —

इन श्लोकों में बताया गया है कि सात्त्विक पुरुष को कैसा भोजन प्रिय होता है, राजसिक को कैसा और तामसिक को कैसा अर्थात् भोजन की पसन्द से भी व्यक्ति की पहचान हो सकती है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ 14॥

देव–द्विज–गुरु–प्राज्ञ–पूजनम्, शौचम्, आर्जवम्,
ब्रह्मचर्यम्, अहिंसा, च, शारीरम्, तपः, उच्यते।

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा – यह शरीर–सम्बन्धी तप कहा जाता है।

Worship of gods, the Brāhmaṇas, one's guru, elders and great souls, purity, straightforwardness, continence and non-violence – these are called penance of the body.

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ 15॥

अनुद्वेगकरम्, वाक्यम्, सत्यम्, प्रियहितम्, च, यत्,
स्वाध्याय-अभ्यसनम्, च, एव, वाङ्मयम्, तपः, उच्यते।

जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है - वही वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

Words which cause no annoyance to others and are truthful, agreeable and beneficial, as well as the study of the Vedas and other Śāstras and the practice of the chanting of Divine Name – this is known as penance of speech.

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ 16॥

मनःप्रसादः, सौम्यत्वम्, मौनम्, आत्मविनिग्रहः,
भावसंशुद्धिः, इति, एतत्, तपः, मानसम्, उच्यते।

मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता - इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।

Cheerfulness of mind, placidity, habit of contemplation on God, control of the mind and perfect purity of inner feelings – all this is called austerity of the mind.

श्लोक 14, 15 व 16 की व्याख्या —

यहाँ भगवान् समझा रहे हैं कि शरीर से सभी बड़े जनों का सम्मान, ज्ञानीजनों का पूजन करना, पवित्रता का ध्यान रखना, सादा रहन सहन रखना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और किसी भी जीव को किसी प्रकार भी कष्ट न पहुँचाना ही शारीरिक तप कहलाता है। अर्थात् शरीर को यातना दिये बिना ही तप किया जा सकता है।

वाणी पर नियन्त्रण रखते हुए इस बात का ध्यान रखा जाय कि मेरी वाणी से कोई आहत न हो जाय क्योंकि वाणी का घाव तलवार के घाव से भी गहरा होता है। इसके विपरीत ऐसी वाणी का प्रयोग करें जो सत्य भी हो, प्रिय भी हो और जिससे दूसरे का हित भी होता हो। बिना पूछे किसी को परामर्श या प्रवचन देने से परहेज करें। आध्यात्मिक पुस्तकें या ऐसे साहित्य का अध्ययन करें जिससे आत्मा की उन्नति हो, भगवान् के गुणगान करें, यदि गायन की इच्छा हो तो केवल भजन गायें, गुरुमन्त्र का जाप अधिक से अधिक करें – यही सब वाणी सम्बन्धी तप कहलाता है।

मन से सदा प्रसन्न रहना, सकारात्मक सोच रखना, शान्त भाव में रहना, मन से सांसारिक बातों का चिन्तन न करके भगवान् की लीलाओं, गुणों का चिन्तन करना, मन का निग्रह अर्थात् इन्द्रियों का गलत कामों में साथ न देना, अन्तःकरण को पवित्र रखना – ये सब मन सम्बन्धी तप कहलाते हैं।

ये सब तप सात्त्विक हैं, राजसिक हैं अथवा तामसिक हैं – यह तप के उद्देश्य पर निर्भर करता है जो श्लोक 17, 18 तथा 19 में बताया गया है। फल की इच्छा से न किया जाने वाला तप सात्त्विक होता है, जो तप सत्कार, मान, पूजा की इच्छा से या स्वार्थ सिद्धि के लिये अथवा पाखण्ड से किया जाता है वह राजस तप होता है तथा जो तप

हठ के कारण, शरीर को पीड़ा देते हुए या दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है वह तामस कहा गया है।

इसी प्रकार श्लोक 20, 21 व 22 में दान भी तीन प्रकार के कहे गये हैं। दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भाव से जो दान लेने वाले की आवश्यकता के अनुसार सुपात्र को बिना प्रत्युपकार की इच्छा के दिया जाता है, जो गुप्त रूप से दिया जाय, लेने वाले को दानी का नाम भी पता न लगे, ऐसा दान सात्त्विक कहलाता है, जो दान क्लेशपूर्वक, अनिच्छा से, लोकदिखावे के लिये या फल की दृष्टि से किया जाता है वह राजस कहलाता है और जो दान तिरस्कारपूर्वक, अयोग्य देश-काल में और कुपात्र को दिया जाता है वह दान तामस कहा गया है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ 28॥

अश्रद्धया, हुतम्, दत्तम्, तपः, तप्तम्, कृतम्, च, यत्, असत्, इति, उच्यते, पार्थ, न, च, तत्, प्रेत्य, नो, इह।

हे अर्जुन! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है – वह समस्त 'असत्' – इस प्रकार कहा जाता है; इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही।

An oblation which is offered, a gift given, an austerity practised, and whatever good deed is performed, if it is without faith, it is termed as naught i.e. 'asat'; therefore, it is of no avail here or hereafter.

व्याख्या – अध्याय 16 के अन्त में भगवान् ने कहा था कि शास्त्रों में वर्णित नियत कर्म ही करने योग्य हैं। अध्याय 17 के श्लोक 5 में कहा गया है कि शास्त्र विधि से रहित मनमाने ढंग से घोर तप भी

किया जाये तो भी वह निरर्थक है, अंहकार का परिचायक है क्योंकि इसमें मानव स्वयं को शास्त्रों से भी श्रेष्ठ समझता है। पुनः, श्लोक 13 में फिर कहा कि शास्त्र विधि से हीन व बिना श्रद्धा के किया हुआ यज्ञ तामसिक यज्ञ होता है। अन्तिम श्लोक 28 में तो श्रद्धा के विषय में स्पष्ट निर्णय सुना दिया कि कोई सत्कर्म यदि बिना श्रद्धा के किया जाता है तो उसका कोई लाभ नहीं है, न इस जन्म में और न परलोक में।

सारांश यह है कि सभी पुण्य कर्मों में शास्त्रों की आज्ञा व श्रद्धा, दोनों ही आवश्यक हैं।

❖ ❖ ❖

अध्याय 18

इस अध्याय को **'मोक्षसंन्यास योग'** का नाम दिया गया है। इसमें कुल 78 श्लोक हैं जिसमें से 15 श्लोकों का चयन किया गया है। यह अध्याय संक्षेप में पूरी गीता की पुनरावृत्ति है। हमने देखा कि गीतारूपी ज्ञान का उपदेश तब आरम्भ होता है जब अर्जुन युद्ध न करने का अपना निर्णय सुना देता है – **'न योत्स्ये'**। (2/9) जो बाल हठ जैसा प्रतीत होता है क्यों कि साथ ही भगवान् से मार्गदर्शन की प्रार्थना भी करता है। और गीता का अन्त होता है जब अर्जुन कह देता है – **'मेरा मोह नष्ट हो गया है, मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा'**। (18/73) अर्थात् गीता का उद्देश्य अर्जुन का, या कहा जाये अर्जुन के बहाने से हम मनुष्यों का, मोह (अज्ञान) नष्ट करना है।

इस अध्याय के प्रधान विषय हैं – यज्ञ, दान और तप रूपी कर्मों को करने की अनिवार्यता, सात्त्विक, राजसिक और तामसिक कार्यों का विभाजन, चारों वर्णों के स्वाभाविक गुणों का वर्णन, कर्म योग (श्लोक 45), ज्ञान योग (श्लोक 50) तथा भक्ति योग (श्लोक 55) से भगवत्प्राप्ति, सर्व धर्मों को त्याग कर परमात्मा की शरण लेने से सब पापों से मुक्त हो जाने का आश्वासन।

श्रीभगवानुवाच —

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ 5॥

यज्ञ–दान–तपः–कर्म, न, त्याज्यम्, कार्यम्, एव, तत्,
यज्ञः, दानम्, तपः, च, एव, पावनानि, मनीषिणाम्।

श्रीभगवान् बोले —यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं हैं, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप – ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं।

Śrī Bhagvān said : Acts of sacrifice, charity and penance are not worth giving up; they must be performed. For sacrifice, charity and penance – all these are purifiers to the wise men.

व्याख्या – भगवान् ने कहा है कि कुछ कर्म त्याग के योग्य होते हैं जिनका वर्णन अध्याय 16 में किया गया है किन्तु यज्ञ, दान और तप जैसे कार्य कभी भी नहीं त्यागने चाहिये। इन शब्दों की परिभाषा गीता के अनुसार साधारण अर्थों में जानी जाने वाली परिभाषा से अलग है। अध्याय 4 में भगवान् कह चुके हैं कि अपने-अपने वर्ण, आश्रम व परिस्थिति के अनुसार किये गये सभी कर्म यज्ञ होते हैं यदि वे अहंकार व स्वार्थ की भावना को त्यागकर कर्तव्य समझकर किये जायें।

दान भी एक अवश्य करणीय कर्म है। जो कुछ भी हमें मिला है, सब भगवान् का है। उसमें से अपनी आवश्यकता से अधिक प्राप्त साधनों का प्रयोग दूसरों की ज़रूरतों को पूरी करने में खर्च करना चाहिये।

तप वही है जो अध्याय 17 के श्लोक 14 से 19 तक बताया गया है – शरीर का तप, वाणी का तप तथा मन का तप। इसी प्रकार अध्याय 18 में जो तामसिक कार्य बताये गये हैं वे सब त्यागने योग्य हैं।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ 10॥

न, द्वेष्टि, अकुशलम्, कर्म, कुशले, न, अनुषज्जते, त्यागी, सत्त्व-समाविष्टः, मेधावी, छिन्न-संशयः।

जो मनुष्य अकुशल कर्मसे तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता - वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है।

He who has neither aversion for action which is leading to bondage (voqQ'ky) nor attachment to that which is conducive to blessedness (oqQ'ky) – imbued with the quality of goodness, he has all his doubts resolved, is intelligent and a man of true renunciation.

व्याख्या – भगवान् कहते हैं कि कोई भी कर्म अच्छा या बुरा नहीं होता। जिसको जो काम प्रारब्धानुसार मिला है उसी को पूरी निष्ठा से करना चाहिये। गीता के आरम्भ में अर्जुन युद्ध के कार्य को ही बुरा समझ रहा था। इस प्रकार तो जिन कार्यों में शारीरिक श्रम अधिक है, देखने में साफ-सुथरे भी नहीं हैं वे सभी अकुशल या न करने योग्य हो जायेंगे, जैसे सफाई का कार्य, जुलाहे का कार्य, केवट का कार्य, मोची का कार्य आदि। इन कामों को कोई भी नहीं करना चाहेगा जिससे संसार की गाड़ी चलेगी ही नहीं। यदि मजदूर बोझा ढोने से परहेज करेगा तो मकान कैसे बनेंगे। सन्त रविदास मोची का कार्य करते-करते सन्त बने थे तो कबीर दास कपड़ा बुनते-बुनते। इसलिये भगवान् कहते हैं कि त्यागी या संन्यासी के लिये कर्मों के त्याग की आवश्यकता नहीं है, वरन् जो पुरुष शास्त्र-विहित कर्म आसक्ति, फल और कर्तृत्त्व भाव को त्याग कर करता है वही सच्चा त्यागी या संन्यासी है। जैसा कि निम्नलिखित श्लोक संख्या 23 में पुनः कहा गया है-

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ 23॥

नियतम्, सङ्गरहितम्, अरागद्वेषतः, कृतम्,
अफलप्रेप्सुना, कर्म, यत्, तत्, सात्त्विकम्, उच्यते।

जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो - वह सात्त्विक कहा जाता है।

That action which is ordained by the scriptures and is not accompanied by the sense of doership, and has been done without any attachment or aversion by one who seeks no return, is called Sāttvika.

व्याख्या – इस श्लोक में सात्त्विक कर्म की परिभाषा बताई गई है। जो कर्म शास्त्रों के अनुसार हो, जिस कर्म में करने वाले को कर्तापन का अभिमान न हो, जिसमें फल की इच्छा न हो तथा जो राग-द्वेष से रहित हो – इन चारों लक्षणों से जो कर्म युक्त होते हैं, ऐसे कर्म सात्त्विक कहलाते हैं। इसके बाद वाले यानी श्लोक 24 में राजस कर्म की पहचान बताई गई है जो बहुत परिश्रम-युक्त होता है, भोगों को चाहने वाले पुरुष द्वारा तथा अहंकार युक्त पुरुष द्वारा किया जाता है।

श्लोक 25 में तामसी कर्म के लक्षण बताये गये हैं – जिस कर्म को करने से पहले न तो उसके परिणाम पर विचार किया जाता है, न उससे होने वाली हानि देखी जाती है, न यह देखा जाता है कि उससे किसी की हिंसा तो नहीं होती, न अपनी सामर्थ्य का ध्यान रखा जाता है, ऐसे कर्म तामस कर्मों की श्रेणी में आते हैं।

उपरोक्त कर्मों को करने वाले कर्ता भी क्रमशः उन्हीं श्रेणियों में आते हैं। प्रबुद्ध व्यक्ति इन बातों को जानकर यह निर्णय कर सकते हैं कि वे किस श्रेणी के कर्ता हैं। यदि उनके कर्म निम्न श्रेणी के हैं तो वे चेष्टा करके उनसे बचकर सात्त्विक कर्मों की ओर बढ़ सकते हैं जिससे कि वे आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर हो सकें।

श्लोक 36 से 39 तक तीन प्रकार के सुखों का वर्णन किया गया है। इसका ज्ञान होने पर मनुष्य यह जान सकता है कि जिस अवस्था को वह सुख समझ रहा है वह सुख है भी या नहीं। यहाँ बताया गया है कि जो सुख आरम्भ काल में यद्यपि दुःख-रूप लगता है किन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है, वही वास्तव में सुख है जिसे सात्त्विक सुख भी कहते हैं, जैसा कि छठे अध्याय के 22वें श्लोक में कहा गया है – कि जिस लाभ को प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा लाभ कुछ भी नहीं मानता। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में लिखा है –

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥

अर्थात् भजन ध्यान व सेवा आदि में जो सुख प्राप्त होता है वह परिणाम में अमृत के समान होता है और वही सात्त्विक सुख कहलाता है। जो सुख भोगकाल में अच्छा लगता है किन्तु परिणाम में विष के समान है वह राजसिक सुख कहा जाता है। कुछ सुख ऐसे भी होते हैं जो न तो भोगकाल में सुखदायक होते हैं, न परिणाम काल में, केवल भ्रम के कारण सुख जैसे लगते हैं जैसे अधिक निद्रा, आलस्य और कर्तव्य-पालन में प्रमाद। ऐसे सुख तामसिक कहे गये हैं।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ 40॥

न, तत्, अस्ति, पृथिव्याम्, वा, दिवि, देवेषु, वा, पुनः, सत्त्वम्, प्रकृतिजैः, मुक्तम्, यत्, एभिः, स्यात्, त्रिभिः, गुणैः।

पृथ्वीमें या आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो।

There is no being on earth, or in the middle region or even among the gods or anywhere else, who is free from these three Guṇas, born of Prakṛti.

व्याख्या – इस श्लोक में बताया गया है कि पूरे ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं है जो प्रकृति के इन तीनों गुणों से रहित हो क्योंकि इन गुणों के आधार पर ही माया अथवा प्रकृति सृष्टि का संचालन करती है। तीनों गुणों से परे तो केवल ईश्वर ही हो सकता है। ईश्वर के समीप जाने के इच्छुक व्यक्तियों को क्रमशः तमोगुण से रजोगुण व रजोगुण से सत्त्वगुण की ओर बढ़ना चाहिये। ऐसा करते रहने से बहुत जन्मों के अन्त में मानव ईश्वर को प्राप्त कर सकता है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ 41॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशाम्, शूद्राणाम्, च, परन्तप,
कर्माणि, प्रविभक्तानि, स्वभाव-प्रभवैः, गुणैः।

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके तथा शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंद्वारा विभक्त किये गये हैं।

The duties of the Brāhmaṇas, the Kṣatriyas and the Vaiśyas, as well as of the Śūdras have been assigned according to their innate modes of Prakṛti (Guṇas), Arjuna.

व्याख्या – इस श्लोक में भगवान् ने बताया है कि सम्पूर्ण मानव-जाति के कर्म स्वभाव व गुणों के आधार पर चार श्रेणियों में विभाजित किये गये हैं (न कि जन्म के आधार पर) जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के कर्म कहलाते हैं।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ 42॥

शमः, दमः, तपः, शौचम्, क्षान्तिः, आर्जवम्, एव, च, ज्ञानम्, विज्ञानम्, आस्तिक्यम्, ब्रह्मकर्म, स्वभावजम्।

अन्तःकरणका निग्रह करना, इन्द्रियोंका दमन करना, धर्मपालनके लिये कष्ट सहना, बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना, दूसरोंके अपराधोंको क्षमा करना, मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना; वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदिमें श्रद्धा रखना; वेद-शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्माके तत्त्वका अनुभव करना - ये सब-के-सब ही ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।

Subjugation of the mind and senses, enduring hardships for the discharge of one's sacred obligations, external and internal purity, forgiving the faults of others, straightness of mind, senses and behaviour, belief in the Vedas and other scriptures, God and life after death etc., study and teaching of the Vedas and other scriptures and realization of the truth relating to God – all these constitute the natural duties of a Brāhmaṇa.

व्याख्या – इस श्लोक में बताये गये कर्म करने वाले व्यक्ति ब्राह्मण की श्रेणी में आते हैं। जिनके स्वभाव में ये गुण नहीं होते वे यदि ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण स्वयं को ब्राह्मण कहलवाते हैं, लोगों से अपनी पूजा करवाते हैं, दान-दक्षिणा आदि ग्रहण करते हैं तो वे भोले-भाले लोगों को भ्रमित करते हैं।

इसी प्रकार नीचे दिये गये श्लोकों में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के स्वाभाविक कर्म बताये गये हैं –

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ 43॥

शौर्यम्, तेजः, धृतिः, दाक्ष्यम्, युद्धे, च, अपि, अपलायनम्, दानम्, ईश्वरभावः, च, क्षात्रम्, कर्म, स्वभावजम्।

शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें न भागना, दान देना और स्वामिभाव – ये सब-के-सब ही क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं।

Heroism, majesty, firmness, diligence and dauntlessness in battle, bestowing gifts, and lordliness – all these constitute the natural duty of Kṣatriya.

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ 44॥

कृषि-गौ-रक्ष्य-वाणिज्यम्, वैश्यकर्म, स्वभावजम्, परिचर्या-आत्मकम्, कर्म, शूद्रस्य, अपि, स्वभावजम्।

खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार – ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं। तथा सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।

Agriculture, rearing of cows and honest exchange of merchandise – these constitute the natural duty of a Vaiśya (a member of the trading class); and service of the other classes is the natural duty even of a Śūdra (a member of the labouring class).

व्याख्या – साधारणतः लोग वर्णों का विभाजन जन्म देने वाले परिवार के आधार पर करते हैं; परन्तु गीता में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य

का वर्ण वही मानना चाहिये जैसे उसके कर्म हैं। यदि किसी व्यक्ति का जन्म शूद्र परिवार में हुआ है परन्तु वह स्वाभाविक ही ब्राह्मणों जैसे कार्य करता है तो ब्राह्मण ही मानने योग्य है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ 46॥

यतः, प्रवृत्तिः, भूतानाम्, येन, सर्वम्, इदम्, ततम्, स्वकर्मणा, तम्, अभ्यर्च्य, सिद्धिं, विन्दति, मानवः।

जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

From whom all beings come into being and by whom the whole universe is pervaded, by worshipping Him through the performance of his own natural duties, man attains the highest perfection.

व्याख्या – यहाँ बताया गया है कि किस प्रकार मनुष्य अपने वर्ण के अनुरूप स्वाभाविक कर्मों को करके ईश्वर की पूजा कर सकता है। परमेश्वर को ही सर्वस्व समझकर परमेश्वर का चिन्तन करते हुए, परमेश्वर की आज्ञानुसार मन, वाणी और शरीर से परमेश्वर के लिये ही स्वाभाविक कर्तव्य कर्म का आचरण करना, कर्म द्वारा परमेश्वर को पूजना है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ 66॥

सर्वधर्मान्, परित्यज्य, माम्, एकम्, शरणम्, व्रज, अहम्, त्वा, सर्वपापेभ्यः, मोक्षयिष्यामि, मा, शुचः।

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

Resigning all your duties to Me, the all-powerful and all supporting Lord, take refuge in Me alone; I shall absolve you of all sins, worry not.

व्याख्या – इस श्लोक को भगवान् ने सम्पूर्ण गोपनीयों से अति गोपनीय और परम रहस्ययुक्त वचन बताया है और यह रहस्य अर्जुन को इसलिये कहा है क्योंकि वह उनका अतिशय प्रिय है। वे रहस्ययुक्त वचन ये हैं कि जितनी बातें अभी तक समझायी गयी हैं वे यदि समझ में न भी आयी हों तो अधिक तर्क-वितर्क में न पड़कर सांसारिक मोह-ममता को छोड़कर केवल एक मेरी शरण में आ जा और अपने कर्तव्यों को निभाता चल जिस प्रकार मैंने समझाया है। जो मेरी शरण में पूर्ण निष्ठा के साथ आ जाता है उसे मैं सब पापों से मुक्त कर देता हूँ। गोस्वामी तुलसीदास ने भी मानस में लिखा है कि –

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥

शरण में तो अर्जुन आरम्भ से ही था जब उसने कहा था – **'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** – आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये। वहाँ अर्जुन शिक्षा लेने के लिये शरण में आया था, यहाँ भगवान् पूर्ण समर्पण के लिये निर्देश दे रहे हैं, इसीलिये कहा – **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'**।

यही गीता का अन्तिम उपदेश है, यही गीता का निष्कर्ष है। यदि हम स्वयं को और अपने समस्त कर्मों को भगवान् को समर्पित कर सकें तो फिर किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। मानस में भी यही कहा गया है –

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ 67॥

इदम्, ते, न, अतपस्काय, न, अभक्ताय, कदाचन,
न, च, अशुश्रूषवे, वाच्यम्, न, च, माम्, यः, अभ्यसूयति।

तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्तिरहितसे और न बिना सुननेकी इच्छावालेसे ही कहना चाहिये; तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये।

This secret gospel of the Gītā should never be imparted to a man who lacks in austerity, nor to him who is wanting in devotion, nor even to him who is not willing to hear; and in no case to him who finds fault with Me.

व्याख्या – यह गीता का ज्ञान उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म का ज्ञान है, योग का शास्त्र है, श्री कृष्ण और अर्जुन का सम्वाद है। अतः इसे केवल उसी व्यक्ति को सुनाने की आज्ञा दी गयी है जो इसमें रुचि रखता हो, भगवान् में द्वेष भाव न रखता हो, तप रहित न हो अभक्त न हो।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ 68॥

यः, इमम्, परमम्, गुह्यम्, मद्भक्तेषु, अभिधास्यति, भक्तिम्,
मयि, पराम्, कृत्वा, माम्, एव, एष्यति, असंशयः।

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा – इसमें कोई सन्देह नहीं है।

He who, offering the highest love to Me, preaches the most profound gospel of the Gītā among My devotees, shall come to Me alone; there is no doubt about it.

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ 70॥

अध्येष्यते, च, यः, इमम्, धर्म्यम्, संवादम्, आवयोः
ज्ञानयज्ञेन, तेन, अहम्, इष्टः, स्याम्, इति, मे, मतिः।

जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा – ऐसा मेरा मत है।

Whosoever studies this sacred dialogue of ours in the form of the Gītā, by him too shall I be worshipped with Yajña of Knowledge; such is My conviction.

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥ 71॥

श्रद्धावान्, अनसूयः, च, शृणुयात्, अपि, यः, नरः, सः, अपि, मुक्तः, शुभान्, लोकान्, प्राप्नुयात्, पुण्यकर्मणाम्।

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा।

The man who listens to the holy Gītā with reverence, being free from malice, he too, liberated from sin, shall reach the propitious worlds of the virtuous.

व्याख्या – श्लोक 68 से 71 में भगवान् ने स्वयं गीता-ज्ञान का महत्त्व समझाया है। भगवान् कहते हैं कि इस ज्ञान को जो पुरुष भक्तों में कहेगा, समझायेगा, प्रवचन करेगा, वह मुझे अत्यन्त प्रिय होगा और मुझे ही प्राप्त होगा। जो इस शास्त्र को पढ़ेगा वह ज्ञान-रूप से मेरी पूजा का फल प्राप्त करेगा तथा जो श्रद्धापूर्वक इस ज्ञान को दूसरों से केवल सुनेगा वह भी अगले जन्म में श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त करेगा।

अर्थात् गीता-शास्त्र को पढ़ना, सुनना या सुनाना कल्याण चाहने वाले व्यक्तियों का परम कर्त्तव्य है।

अर्जुन उवाच —

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ 73॥

नष्टः, मोहः, स्मृतिः, लब्धा, त्वत्प्रसादात्, मया, अच्युत, स्थितः, अस्मि, गतसन्देहः, करिष्ये, वचनम्, तव।

इस प्रकार भगवान् के पूछने पर अर्जुन बोले — हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।

Arjuna said: Krsṇa, by Your grace my delusion has been destroyed and I have gained wisdom. I am free of all doubt. I will do your bidding.

व्याख्या – पूरी गीता सुनाने के बाद भगवान् ने अर्जुन से पूछा था कि क्या इस गीता शास्त्र को तूने एकाग्रचित्त से सुना और क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया। इसके उत्तर में अर्जुन कहता है कि मेरा मोह पूरी तरह नष्ट हो गया है और मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। आपने मेरी सभी जिज्ञासाओं को शान्त कर दिया है। अब मुझे किसी भी प्रकार का संशय नहीं रह गया है। इस मोह को दूर करने की सामर्थ्य केवल भगवान में ही थी। अन्त के 5 श्लोक संजय द्वारा कहे गये हैं जिनमें वह भगवान् वेदव्यास के प्रति आभार प्रकट करता है जिन्होंने उसको दिव्यदृष्टि देकर भगवान् की वाणी सुनने के योग्य बनाया। अन्त में संजय कहता है कि जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीवधारी अर्जुन है वहीं पर श्री विजय, विभूति और अचल नीति है – ऐसा मेरा मत है।

❖ ❖ ❖

श्रीमद्भगवद्गीता के महत्त्वपूर्ण सन्देश

1. संसार के सभी प्राणी जड़ व चेतन के सम्मिश्रण से बने हैं।
2. चेतन अंश अथवा जीवात्मा अजर, अमर अविनाशी है। जब यह जीवात्मा जीर्ण शरीर को त्याग देती है तो जड़ शरीर निष्क्रिय हो जाता है और पंच भूतों में विलीन हो जाता है।
3. जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और जिसकी मृत्यु हुई है उसका पुनर्जन्म अवश्यम्भावी है। यह क्रम प्रलयकाल तक चलता ही रहता है।
4. मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, फल पर उसका अधिकार नहीं है।
5. समस्त जीवों में मनुष्य ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना है क्योंकि इसको भगवान् ने अन्य इन्द्रियों के अतिरिक्त मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार भी दिये हैं जो इसको अन्य जीवों से अलग बनाती हैं। इन्हीं के आश्रय से मानव सत्कर्म अथवा दुष्कर्म का चयन कर सकता है।
6. मनुष्य द्वारा किये गये कर्म बिना फल दिये नष्ट नहीं होते चाहे करोड़ों जन्म बीत जायें क्योंकि जीवात्मा शरीर तो बदलती है परन्तु जहाँ भी वह जाती है, कर्म संस्कार उसके साथ चले जाते हैं, इसके अतिरिक्त संसार की कोई वस्तु उसके साथ नहीं जाती।
7. कोई भी व्यक्ति किसी भी समय कर्म किये बिना नहीं रह सकता। जो कर्तव्य-कर्मों से बचकर संन्यासी बन जाते हैं वे केवल दिखावा करते हैं, ढोंगी हैं; क्योंकि शरीर द्वारा कर्मों का त्याग करके भी मानसिक कर्म तो होते ही हैं।

8. भगवान् में मन को लगाकर, अहंकार का त्याग करके, स्वयं को कर्ता न मानते हुए अपने को वर्ण व आश्रम के अनुसार परमार्थ की भावना से अपने स्वाभाविक कर्तव्य कर्म करने से पाप नहीं लगता।

9. पाप और पुण्य का निर्णय कर्म का स्वरूप नहीं, वरन् उसकी प्रेरक भावना से होता है।

10. यज्ञ, दान और तप अवश्य करणीय कर्म हैं।

11. काम, क्रोध, अहंकार, लोभ, ममता, मात्सर्य – ये सब विकार हैं, मनुष्य को नरक में डालने वाले हैं। अतः इन सबका त्याग करना आवश्यक है।

12. सद्भावना, सत्य आचरण, कोमलता, मृदु–भाषण, किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार से कष्ट न पहुँचाना, माता–पिता गुरु, विद्वान व किसी भी प्रकार से अपने से बड़ों का सम्मान करना, करुणा, मैत्री, शुद्ध–भावना, अच्छे साहित्य का अध्ययन, नियमित भगवान् का ध्यान, सदा भगवान् का धन्यवाद करना, भगवान् को ही अपना सुहृद समझना, सन्तुष्ट रहना, किसी से कोई अपेक्षा न करना, किसी की निन्दा चुगली न करना, क्षमा करने का स्वभाव, धैर्य, स्वयं को दूसरों से श्रेष्ठ न समझना आदि गुणों का विकास करने की चेष्टा में लगे रहें।

13. विकारों से बचने के लिये इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है। इसके लिये ध्यान, सत्कर्म व ईश्वर के प्रति समर्पण करना होगा।

14. सभी कर्मों को भगवान् को समर्पित करते चलें तो भी भगवान् की पूजा हो सकती है।

15. निर्गुण निराकार की अपेक्षा सगुण साकार की उपासना आसान है।

16. जब-जब पृथ्वी पर पाप, अत्याचार तथा अधर्म बहुत अधिक बढ़ जाते हैं तब-तब धर्म की स्थापना के लिये भगवान् अवतार धारण करते हैं।

17. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र – इन चार वर्णों में मनुष्य जाति का विभाजन भगवान् द्वारा स्वभाव से उत्पन्न गुणों के आधार पर किया गया है, न कि जन्म के आधार पर, जो इस प्रकार हैं –

ब्राह्मण – शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, आस्तिक भाव, ज्ञान, विज्ञान।

क्षत्रिय – शूर-वीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध में पीठ न दिखाना, दान देना, स्वाभिमान।

वैश्य – कृषि, गोपालन, वाणिज्य।

शूद्र – सब वर्णों की सेवा करना।

18. दूसरे के धर्म से अपना धर्म श्रेष्ठ है चाहे वह गुणरहित अथवा दोषपूर्ण ही क्यों न हो।

19. सृष्टि का संचालन माया अथवा प्रकृति तीन गुणों - सत्त्व, रजस तथा तमस के आधार पर करती है।

20. उपरोक्त तीन गुण प्रत्येक व्यक्ति में हर समय न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहते हैं और इनकी मात्रायें समय-समय पर बदलती रहती हैं।

21. सत्त्वगुण प्रकाश करने वाला है अतः सुख में लगाता है। रजोगुण कामना से उत्पन्न होता है और कर्म में लगाता है। तमोगुण

आलस्य और निद्रा से उत्पन्न होता है तथा ज्ञान को ढककर प्रमाद में लगाता है।

22. मनुष्य जिस भाव में सदा रहने का आदी है उसी भाव में मृत्यु के समय भी रहता है और जो भाव मृत्यु के समय होता है, उसी के अनुरूप उसको अगला जन्म मिलता है। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह सदा आत्मभाव अथवा परमात्मा के ध्यान में लगे रहने की चेष्टा करे जिससे कि अन्त समय में भी वही भाव रहे और वह मरणोपरान्त भगवान् को ही प्राप्त कर सके।

23. भगवान् की हजारों आँखें व हजारों कान हैं। कोई भी काम भगवान् से छिपा कर नहीं किया जा सकता।

24. ईश्वर-प्राप्ति ही मानव का उद्देश्य होना चाहिये जिससे बार-बार जन्म लेना, बार-बार मरना, बार-बार बुढ़ापे, गर्भ आदि के कष्ट न झेलने पड़ें।

25. ईश्वर-प्राप्ति के तीन मार्ग बताये गये हैं – कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। ये तीनों योग एक दूसरे पर आश्रित हैं परन्तु सद्भावना, सत्कर्म, अन्तःकरण की निर्मलता के बिना किसी भी योग पर चलना सम्भव नहीं है।

26. हजारों मनुष्यों में कोई एक ईश्वर-प्राप्ति के लिये यत्न करता है और हजारों यत्न करने वालों में से कोई एक तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति करता है।

27. भगवान् से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, वही विष्णु रूप में पालन करता है और वही रुद्र रूप से संहार करता है। सभी देवता उसी का अंश हैं, उसी की शक्ति से मनुष्यों की कामनाओं की पूर्ति करते हैं। जो अन्य देवताओं को पूजते हैं वे भी परोक्ष रूप से भगवान् को ही पूजते हैं किन्तु उसके परिणाम-स्वरूप लोगों

की कामनाओं की पूर्ति तो हो जाती है परन्तु ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती।

28. सम्पूर्ण जगत को भगवान् ने अपने अंश से धारण किया हुआ है। ईश्वर से रहित जग में कोई तत्त्व नहीं है।

29. संसार की सभी वस्तुएँ त्रिगुणात्मक हैं – सत्त्वगुण, रजोगुण व तमोगुण हैं। तीन प्रकार की श्रद्धा, भोजन, दान, तप, बुद्धि, कर्ता कर्म, ज्ञान, धारणा – आदि सभी कुछ इन तीन श्रेणियों में बँटा हुआ है। इनको जानकर मनुष्य तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्त्वगुण की ओर बढ़ने की चेष्टा करे।

30. गीता में भगवान् ने आश्वासन भी दिया है और प्रतिज्ञा भी की है कि जो मनुष्य निरन्तर मेरा चिन्तन करेगा, अनन्य भाव से मेरी ही पूजा उपासना करेगा, मेरी आज्ञा के अनुसार कार्य करेगा (जो गीता में बताई गई है), अपने सारे कर्म मुझे अर्पण करेगा, उनकी सभी आवश्यकताएँ मैं बिना माँगे ही पूर्ण कर दूँगा, उनके हृदय में ज्ञान का दीपक प्रज्ज्वलित कर दूँगा और सब पापों से मुक्त कर दूँगा।

31. इस गीता शास्त्र को पढ़ने व सुनने का अधिकार सभी को है – किसी भी आयु में, किसी भी अवस्था में, विद्यार्थी को, गृहस्थी को, स्त्री, वैश्य अथवा शूद्र को, किसी भी धर्म के अनुयायी को, पुण्यात्मा को, पापी को, यदि वह भगवान् व भगवान् के वचनों में श्रद्धा रखने वाला हो, विनम्र हो, मान रहित हो परन्तु उन लोगों को यह अधिकार नहीं है जो अश्रद्धालु हैं, सुनने की इच्छा न रखते हों, भगवान् से द्वेष करने वाले हों, गीता में दोष दृष्टि रखते हों।

❖ ❖ ❖

श्रीमद्भगवद्गीता महात्म्यम्

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः॥ 1 ॥

यह गीता का शास्त्र बड़ा पवित्र है। जो प्रेम से इसे पढ़ता है वह भय शोक से रहित विष्णु के पद को प्राप्त करता है।

गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च॥ 2 ॥

गीता का अध्ययन व प्राणायाम करने वाले के पूर्वजन्म के पाप समाप्त हो जाते हैं।

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्॥ 3 ॥

जल का स्नान करने से शरीर का मल समाप्त हो जाता है। गीताके जल में स्नान करने से संसार के मल का नाश हो जाता है।

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥ 4 ॥

गीता का अच्छी प्रकार से अध्ययन करना चाहिये। दूसरे शास्त्रों की क्या आवश्यकता है क्योंकि गीता स्वयं भगवान् के मुख से निकली हुई वाणी है।

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम्।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥ 5॥

गीता महाभारत का अमृत है तथा विष्णु भगवान् के मुख से निकली हुई वाणी है। इस गीतारूपी गंगाजल को पीकर पुनर्जन्म नहीं होता।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥ 6॥

सब उपनिषद् गौएँ हैं। श्रीकृष्ण दुहने वाले हैं। गीता उन गौओं का दूध है। अर्जुन बुद्धिमान बछड़ा है। यह गीता रूपी दूध उन्होंने पान किया।

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥ 7॥

सब शास्त्रों में एक ही शास्त्र है देवकीपुत्र कृष्ण की गीता, सब देवों में एक ही देव है देवकीपुत्र कृष्ण, सब मन्त्रों में एक ही मन्त्र है उसका नाम, सब कर्मों में एक ही कर्म है उसकी सेवा।

❖ ❖ ❖

भजन

नाम लिया हरि का जिसने, तिन और का नाम लिया न लिया

जड़ चेतन सब जगजीवन को, घट में अपने सम जान सदा,
सबका प्रतिपालन नित्य किया, तिन विप्रन दान दिया न दिया॥

काम किये परमारथ के, तन से मन से धन से करके,
जग अन्दर कीरति छाय रही, दिन च्यार विसेस जिया न जिया॥

जिसके घर में हरि की चर्चा, नित होवत है दिन रात सदा,
सतसंग कथामृत पान किया, तिन तीरथ नीर पिया न पिया॥

गुरु के उपदेस समागम से, जिसने अपने घट भीतर में,
ब्रह्मानन्द रूपको जान लिया, तिन साधन योग किया न किया॥

❖ ❖ ❖

प्रार्थना

वह शक्ति हमें दो दयानिधे कर्तव्य मार्ग पर डट जावें।
पर सेवा पर उपकार में हम जग जीवन सफल बना जावें॥

हम दीन हीन निबलों विकलों के सेवक बन संताप हरें।
जो हैं अटके भूले-भटके, उनको तारें हम तर जावें॥

छल, द्वेष, दम्भ, पाखण्ड, झूठ, अन्याय से निशदिन दूर रहें।
जीवन हो शुद्ध सरल अपना, शुचि प्रेम सुधा रस बरसाएँ॥

निज आन बान मर्यादा का, हमें ध्यान रहे अभिमान रहे।
जिस देश जाति में जन्म लिया, बलिदान उसी पर हो जाएँ॥

श्री कृष्णः शरणं मम

हरि ॐ तत्सत् हरि ॐ तत्सत् हरि ॐ तत्सत्

❖ ❖ ❖

संसार एक विद्यालय है, अध्यात्म-विकास का क्षेत्र है। इससे भागना नहीं होगा और न ही इससे घृणा करनी होगी। संसार से भागने का प्रयत्न अपने साधन से भागने का प्रयत्न है और आत्मघातक है। जिस योग्य साधक है उसे उसी परिस्थिति में रखा गया है। उस परिस्थिति की समस्याओं को हल करके ही वह आगे बढ़ पायेगा। व्यक्ति जो है, जहाँ है, उसको समतापूर्वक समझकर बढ़ना होगा।

– स्वामी रामानन्द

❖ ❖ ❖

जीवन को साधनामय बनाने का अर्थ है जीवन की प्रत्येक गति को प्रभु से स्वीकार करना। वह हमें सिखाने के लिये, हमारे भीतर कुछ संशोधन करने के लिये तथा संस्कार के बोझे को कम करने के लिये है और प्रभु की कृपा का स्वरूप है। इस स्वीकृति के साथ जो कुछ हम करें उसे प्रभु का निर्देश समझ कर करें – यही है साधनामय जीवन।

– स्वामी रामानन्द

❖ ❖ ❖

लेखक का संक्षिप्त परिचय

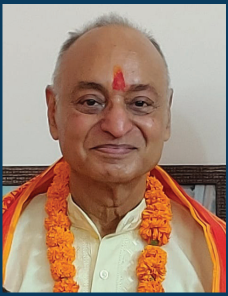

नामः रमेश चन्द्र गुप्त

जन्म तिथिः 31 जुलाई 1946

जन्म स्थानः ग्राम दुल्हेड़ा,
जिला झज्जर (हरियाणा)

शिक्षाः
1. वाणिज्य स्नातक
   श्रीराम कॉलेज ऑफ कॉमर्स,
   दिल्ली विश्वविद्यालय - 1966

2. विधि स्नातक,
   विधि संकाय,
   दिल्ली विश्वविद्यालय - 1971

व्यवसायः नौकरी - पंजाब नेशनल बैंक - 1966-2000
वरिष्ठ प्रबंधक पद से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति

सदस्यः स्वामी रामानन्द साधना परिवार - 2005 से अद्यतन

अन्य प्रकाशनः
1. अध्यात्म विषयक लेख
2. वन्दना, स्तुति, प्रार्थना तथा वैदिक सामान्य ज्ञान
3. भजन संग्रह
4. रामचरितमानस के लोकप्रिय अंश

प्राप्ति स्थानः 1018, महागुन मैंशन-1, इन्दिरापुरम्,
गाज़ियाबाद-201014

सम्पर्क सूत्रः 9818385001